विश्वभारती पत्रिका



मध्ययुग-परिचयात्मक हलवासिया अंक

सम्पादक

रामबहाल तिवारी

सह-सम्पादिका

सुधा गुप्त

खण्ड ३९ : आश्विन २०५५ - फाल्गुन २०५५

अंक ३ - ४ : अकतूबर १९९८ - मार्च १९९९

वार्षिक मूल्य :
३० रुपये

एक प्रति :
८ रुपये
(यह विशेषांक १५ रुपये)

हलवासिया शोध ग्रन्थमाला

सम्पादक : रामबहाल तिवारी

रायबहादुर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट, कलकत्ता ने ट्रस्ट के संस्थापक विश्वेश्वरलाल हलवासिया की जन्मशतवार्षिकी (सन् १९७०) के अवसर पर हिन्दी में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए विश्वभारती को आर्थिक अनुदान दिया था। उस अनुदान तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की आर्थिक सहायता से ग्रन्थमाला का कार्य आरंभ हुआ।

प्रकाशित ग्रन्थ :

दिव्य-प्रबंध—तमिल भाषा में प्रणीत वैष्णव भक्त 'अल्वारों की वाणियाँ' (तमिल वेद) आठ भागो में समाप्त। भारतीय भक्ति धारा का आकर ग्रन्थ, देवनागरी में मूल तमिल तथा प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद।

ग्रन्थांक-१.	संत विष्णुचित्त (पेरियाल्वार) की रचनाएँ	मूल्य २५ रुपये।
ग्रन्थांक-२.	वज्रयानी सिद्ध सरहपाद—प्रथम बौद्ध सिद्ध सरहपाद पर प्रामाणिक ग्रन्थ—ले० डॉ० द्विजराम यादव	मूल्य ३५ रुपये।
ग्रन्थांक-३.	मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में प्रयुक्त काव्यरूढ़ियों का अध्ययन—डॉ० देवनाथ चतुर्वेदी	मूल्य ४० रुपये।
ग्रन्थांक-४.	दिव्य-प्रबंध—भाग २, संत आण्डाल (गोदा), कुलशेखर, भक्तिसार, मुनिवाहन, मधुर कवि की रचनाएँ	मूल्य ३५ रुपये।
ग्रन्थांक-५.	दिव्य-प्रवंध—भाग ३, संत परकाल की रचनाएँ	मूल्य ४० रुपये।
ग्रन्थांक-६.	दिव्य-प्रवंध—भाग ४, संत परकाल की रचनाएँ	मूल्य ४० रुपये।
ग्रन्थांक-७.	इतालवी व्याकरण—इतालवी भाषा का हिन्दी में प्रथम व्याकरण—डॉ० एदमोन्दो आन्देरलीनी तथा रामसिंह तोमर	मूल्य ७० रुपये।
ग्रन्थांक-८.	दिव्य-प्रबंध—भाग ५—संत शठकोप की रचनाएँ	मूल्य ५० रुपये।
ग्रन्थांक-९.	दिव्य-प्रबंध—भाग ६, संत शठकोप की रचनाएँ	मूल्य ५० रुपये।
ग्रन्थांक-१०.	दिव्य-प्रबंध—भाग ७, संत कासार, संत भूत, संत वेताल, संत भक्तिसार की रचनाएँ	मूल्य ४० रुपये।
ग्रन्थांक-११.	दिव्य-प्रबंध—भाग ८, संत शठकोप, संत परकाल तथा श्रीरंगाचार्य की रचनाएँ	मूल्य ४० रुपये।
ग्रन्थांक-१२.	आधुनिक कविता में राष्ट्रीय चेतना, लेखिका—प्रो० ऊ जो किम् (दक्षिण कोरिया)	मूल्य १५० रुपये।
ग्रन्थांक-१३.	माणिक्कवाचकर, तिरुवाचकम् (भाग-१)	मूल्य १२५ रुपये।
ग्रन्थांक-१४.	माणिक्कवाचकर, तिरुवाचकम् (भाग-२)	मूल्य १५० रुपये।

विश्वभारती पत्रिका के महत्त्वपूर्ण संग्रहणीय विशेषांकों की सूची

१. महात्मा गान्धी जन्मशती विशेषांक
मूल्य — १२ रु०
चित्रों की संख्या—१४

२. चार्ल्स फ्रियर ऐण्डरूज़
जन्मशती (१८७१ - १९७१ ई०) विशेषांक
मूल्य — १० रु०
चित्रों की संख्या—१३

३. मानस चतुश्शती अंक
मूल्य — १० रु०
चित्रों की संख्या—१

४. पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी स्मृति अंक
मूल्य — १२ रु०
चित्रों की संख्या—३

५. रामानन्द चट्टोपाध्याय विशेषांक
मूल्य — १२ रु०
चित्रों की संख्या—७

६. सूर-पंचशती विशेषांक
मूल्य — १२ रु०

७. रवीन्द्र-विशेषांक
मूल्य — ८ रु०
चित्रों की संख्या—५

८. पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी जन्मशती विशेषांक
मूल्य — ८ रु०
चित्रों की संख्या—१७

९. मध्ययुग परिचयात्मक हलवासिया अंक
मुल्य — १५ रु०
चित्रों की संख्या—१+२४ (पत्र-चित्र)=२५

पाठकगण से अनुरोध है कि उक्त विशेषांकों की प्राप्ति-हेतु सम्पादक विश्वभारती पत्रिका, हिन्दी भवन से सम्पर्क करें। डाकखर्च प्राप्तकर्त्ता को वहन करना होगा।

प्राप्तिस्थान :

सम्पादक, विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)
हिन्दी भवन
डाकघर—शांतिनिकेतन
प० वं०—७३१२३५

विश्वभारती पत्रिका

आश्विन २०५५-फाल्गुन २०५५, खण्ड ३९, अंक ३-४, अक्तूबर १९९८-मार्च १९९९

विषय-सूची

इस अंक के लेखक (अकारादि क्रम में)

आचार्य क्षितिमोहन सेन	भूतपूर्व कुलपति, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन
इन्द्राणी दास	लेकचरर-इटलियन भाषा, विश्वभारती, शांतिनिकेतन (प० बं०)
कल्याण चटर्जी	अवकाशप्राप्त प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, बर्द्धमान विश्वविद्यालय, (प० बं०)
दिनकर कौशिक	भूतपूर्व अध्यक्ष, कलाभवन, विश्वभारती, शांतिनिकेतन (प० बं०)
प्रेम शंकर	प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, (सागर)
रवीन्द्रनाथ चटर्जी	अवकाशप्राप्त प्रोफेसर, गणित विभाग, विश्वभारती, शांतिनिकेतन (प० बं०)
राजेन्द्र मिश्र	अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, शिमला विश्वविद्यालय, (शिमला)
रामनाथ मेहता	कृष्णकुटी, राक हाउस, अम्बेदकर चौक, शिमला (हि० प्र०)
रामबहाल तिवारी	प्रोफेसर, बँगला विभाग, विश्वभारती, शांतिनिकेतन (प० बं०)
रामसिंह तोमर	एमेरीटस प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग विश्वभारती, शांतिनिकेतन (प० बं०)
विश्वनाथ बनर्जी	भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, विश्वभारती, शांतिनिकेतन (प० बं०)
श्यामली विश्वास	न्यू ग्रीन फिल्ड स्कूल, मालवीय नगर, नई दिल्ली-१७
सेवा सिंह	प्रोफेसर, गुरु नानक देव विश्व-विद्यालय, अमृतसर, (पंजाब)
हरमहेन्द्र सिंह वेदी	प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, गुरुनानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर, (पंजाब)

विश्वभारती पत्रिका

आश्विन २०५५-फाल्गुन २०५५, खण्ड ३९, अंक ३-४, अक्तूबर १९९८-मार्च १९९९

आँख मिचौली

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'लूकोचुरी' कविता का अनुवाद

यदि माँ मैं थोड़ी सी शरारत कर
फूल वनकर खिलूँ चम्पा पेड़ पर,
और भोर होते ही डाल पर
हरे पत्तों में लोटपोट खाऊँ—
तव तो माँ, हारोगी मुझसे
तव क्या पहचान सकोगी मुझे ?
तव ढूँढ़ोगी, अरे कहाँ गया मेरा वेटा ?
पर मैं चुप चुप हँसता रहूंगा।

जव घर के काम में रहोगी डूवी
तव आँखें खोल देखूँगा मैं सभी।
जव स्नान कर पेड़ तले
पीठ पर अपने बाल फैलाये
जाओगी पूजाघर की ओर
दूर से इस फूल की सुगन्ध पाओगी
तव माँ तुम समझ पाओगी क्या
यह तेरे मुन्ने की ही सुगन्ध उड़ आयी ?

दोपहर को सब के भोजन के वाद
वैठोगी तुम महाभारत लेकर हाथ
इस पेड़ की छाया खिड़की से होकर
पड़ेगी तेरे गोद और पीठ पर
और तव मेरी यह नन्हीं छाया
डोलती रहेगी तेरे खुले पन्नों पर
तव माँ समझ पाओगी क्या
तेरी आँखों में वेटे की तैरती छाया ?

प्रदीप लेकर हाथ, सन्ध्या वेला
जब तुम जाओगी गौशाला
तव फूल की आँखमिचौली छोड़
टुप कर उतर आऊँगा इस भूमि पर
मैं तेरा वेटा वन जाऊँगा फिर
'कहानी कहो' कहूँगा तेरे गले लिपट
तुम पूछोगी, "अरे दुष्ट था कहाँ ?
मैं कहूँगा" यह तो न वताऊँगा।

अनुवादिका
श्यामली विश्वास



हिन्दी-समाज
शान्ति-निकेतन

N O T I C E.

TULSI JAYANTI - the death anniversary of poet Tulsidas, will be observed here on Friday the 13th of August, 1937, under the auspices of the Hindi Samaj at Sinha-Sadan after Evening Upasana. Principal Kshitimohan Sen, M. A., has kindly consented to preside. There will be speeches in English and Hindi and Bengali.

All are cordially invited.

Santiniketan
The 12th August, '37.

Gupteshwar
Secretary
Hindi Samaj

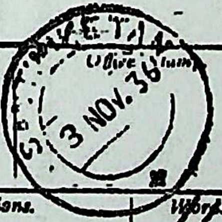
हिन्दी समाज शान्तिनिकेतन की एक विज्ञप्ति।

C. INDIAN POSTS AND  TELEGRAPHS DEPARTMENT 3

No. 191

This form must accompany any enquiry made respecting this Telegram.

Charges to pay Rs. As.



Handed in at (Office of Origin).	Date.	Hour.	Minute.	Service Instructions.	Words.
Allahabad		7	3	13/10	11

Recd. here at 16 H. 8 M.

TO

Hindi Samaj Santiniketan

You can trust one Burdwan

= Nehru =

जवाहरलाल नेहरू (तारवार्ता) : हिन्दी समाज, शान्तिनिकेतन ।

मध्यकाल की अवधारणा : पहचान और सीमा के बिन्दु

हरमहेन्द्र सिंह बेदी

मध्यकाल का तात्पर्य है कि यह युग अतीत और वर्तमान की कड़ी है, वह न तो सुदूर अतीत की भांति एकांत रूप से अतीत ही हो गया है और न वर्तमान के समान पूर्णतया प्रत्यक्ष है। वर्तमान की सीमाएं निश्चित की जा सकती हैं और की भी गई हैं। किन्तु अतीत की कोई निश्चित तिथि नहीं है। ऐसी स्थिति में मध्यकाल की यथार्थ खोज कर पाना सुगम नहीं है। अतः अतीत वर्तमान और भविष्य का विभाजन सुविधाजनक तो है किन्तु वास्तविक नहीं, कारण कोई अतीत पूर्णतया अतीत नहीं होता। (१)

हिन्दी साहित्य के इतिहास में काल - विभाजन को लेकर इतिहास—वेताओं में अत्याधिक मतभेद है तथापि अचार्य शुक्ल का काल-विभाजन आज भी हिन्दी साहित्य के इतिहासों में कमोवेश प्रचलित है। प्रायः काल को तीन भागों में विभाजित किया जाता है— भूत, वर्तमान और भविष्य। जहां तक भविष्य का प्रश्न है, उसका कोई इतिहास नहीं होता क्योंकि जो आया ही नहीं या है ही नहीं, उसका इतिहास कैसा ? अतः इतिहास या तो भूत का होता है या फिर वर्तमान का। वर्तमान भी इतिहास का विषय तभी बन पाता है, जब वह भूत हो जाता है। क्योंकि वर्तमान की काल-सीमा निर्धारित करना कठिन है। अतः इतिहास मूलत : भूत का ही होता है। साहित्य के इतिहास प्रसंग में काल-विभाजन की पद्धति थोड़ी भिन्न प्रकार की है। साहित्य के इतिहास में वर्तमान काल को आधुनिक काल कहा जाता है तथा भूतकाल को आदिकाल और मध्यकाल जैसे दो हिस्सों में बाँट लिया जाता है। इस प्रकार काल-विभाजन का क्रम बनता है—आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल। अतः हिन्दी साहित्य के इतिहास को इसी तरह तीन काल खण्डों में विभाजित किया गया है।

---

१. रवीन्द्र कुमार सिंह, सन्त-काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता, (नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, १९९४), पृष्ठ ४३।

मध्यकाल शब्द इतिहास के सन्दर्भ में पारिभाषिक वन गया है। किसी भी शब्द की पारिभाषिकता धीरे-धीरे विकसित होती है और जव वह पूर्णरूप में विकसित हो जाती है, तो उसका परम्परित अर्थ लुप्त हो जाता है। स्पष्ट है कि आजकल आधुनिक तथा आधुनिकता और मध्यकाल तथा मध्यकालीनता की परिभाषाएँ रूढ़ और निर्धारित हो गयी हैं और उनके परम्परित अर्थ विलीन हो गए हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में मध्यकाल की पारिभाषिकता का निर्णीत हो जाना इस अर्थ में और भी अधिक उपयोगी है कि इससे हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन की बहुत सारी असंगतियों से मुक्त हुआ जा सकता है।

मध्यकाल की पारिभाषिकता को लेकर हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सब से वड़ी असंगति इस काल की अवधि में है, क्योंकि इस काल का आधे से अधिक साहित्य इसकी पारिभाषिकता के वाहर पड़ता है। इतिहासों में जिसे पूर्व मध्यकाल या भक्तिकाल साहित्य कहा जाता है, उसमें आधुनिकता के लक्षण अधिक प्राप्त होते हैं और पारिभाषिकता अर्थ वाली मध्यकालीनता उसमें आती ही नहीं। अतः सर्वप्रथम मध्यकाल की पारिभाषिकता तथा मध्यकालीन साहित्य का विवेचन अनिवार्य जान पड़ता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में— मध्ययुगीन वोध का स्वरूप मध्यकाल की ऐतिहासिक चेतना के दो अर्थों में है : मध्यकाल का लोकजीवन और मध्यकाल के साहित्य में कला आदि का पड़ा हुआ प्रभाव। (२) इनके अनुसार मध्यकाल का अध्ययन इतिहास, कला, संस्कृति और साहित्य के विना संभव नहीं हो सकता।

मध्यकाल को भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में पतनोन्मुख मनोवृत्ति का काल नहीं कहा जा सकता क्योंकि भारतीय इतिहास की इस कालावधि में सर्वत्र जड़ता या पतनोन्मुखता की प्रवृत्ति नहीं थी। इतना अवश्य है कि लगातार मध्यकाल की सीमा में आने वाली शताब्दियों में होने वाले सैकड़ों वर्षों के आक्रमणों से राजसत्ताएं छिन्न-भिन्न, वर्णाश्रम व्यवस्था, और धर्मपुर घातक प्रहार हुए थे। तथापि समग्र दृष्टि से यह काल जड़ एवम् पतन की अपेक्षा स्वच्छन्द एवं विकासोन्मुखी था। जव यूरोप में स्तब्ध मनोवृत्ति और पतनोन्मुख काल का राज्य था, उस समय भारत में एक छोर से दूसरे छोर तक, एक सर्वथा नवीन उत्साह और उत्कर्ष की लहर

---

२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास, (चण्डीगढ़ : पंजाव यूनिवर्सिटी, १९६७), पृष्ठ ८९।

व्याप्त हो गयी थी। इस समय हिन्दी में भक्ति साहित्य रचा जा रहा था। भाषा तव तक नहीं बदलती, जव तक सम्वद्ध जाति या राष्ट्र की चेतना नहीं वदलती। अतः भाषा का वदलाव वहुत मौलिक वदलाव होता है।

भारतीय इतिहास के इस मध्यकाल में भक्ति का वह विशाल आन्दोलन हुआ था, जिसमें जाति, धर्म, लिंग आदि की समस्त परम्परित जड़ताओं को विचार के स्तर पर ही नहीं व्यवहार के स्तर पर भी अस्वीकार किया गया था। विद्वानों ने भक्ति के इस आन्दोलन को वहुत वड़ा आन्दोलन कहा है। भारतीय इतिहास के इसी मध्यकाल में समस्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ था, जो निश्चय ही पूरी तरह विकसित जातीय चेतना के विना सम्भव नहीं हो सकता। सिद्धों-नाथों और सन्तों के साहित्य में ही नहीं, सगुणभक्तों के साहित्य में भी परम्परागत मृतमूल्यों का खुलकर विरोध किया गया है। इसके साथ-साथ भारतीय इतिहास के इसी मध्यकाल में महान दार्शनिकों, कवियों, भक्तों एवम् विचारकों की वड़ी ही उज्ज्वल परम्परा उपलव्ध होती है। इस काल में मनुष्य की गरिमा का जितना उज्ज्वल साहित्य निर्मित हुआ, वह किसी भी हिसाव से जड़ता और पतन का परिचायक नहीं कहा जा सकता। जड़ता एवं पतन तो था किन्तु उसमें स्वच्छन्दता का वोलवाला अधिक था।

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन समस्त भारतीय आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक गहन और अद्वितीय है। इन आन्दोलन ने भेदभाव का विरोध कर जनमानस को भीतर तक प्रभावित किया क्योंकि इसमें सभी धर्मों के लोग शामिल थे। इस अन्दोलन को गति और दिशा देने वालो में अधिकांश निरक्षर थे, जिनमें स्त्रियां भी शामिल थीं। ये लोग श्रम की गरिमा में विश्वास रखते थे न कि वर्ग में। मध्यकालीन साहित्य, कला, दर्शन रूढ़िग्रस्त थे, किन्तु भक्ति आन्दोलन में सामाजिक आर्थिक, दार्शनिक, वैचारिक व नैतिक आदि समस्त परम्परागत रूढ़ियों का खुला विरोध किया। (३) काव्य-भाषा काव्य-विषय और काव्य-शैली आदि सभी कसौटियों के हिसाव से वास्तविक हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ इसी काव्य साहित्य से हुआ है। (४)

---

३. रवीन्द्र कुमार सिंह, सन्त-काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता (नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, १९९४), पृष्ठ ४७।

४. वही पृ. ४७ ।

इतिहासकारों की दृष्टि का मूल केन्द्र केवल मध्यकाल ही रहा है क्योंकि मध्यकाल का पूरा घटक संघर्षों का घटक है और हमारे पास पूरे विस्तार से मात्र मध्यकाल का ही इतिहास है। मध्यकाल का पूरा युग निर्माणकारी था और पूरी चेतना दो संस्कृतियों का संगम स्थल थीं। भारत एक से दूसरे युग में कुछ नए मूल्यों को लेकर चल रहा था और उन्हें प्रस्तुत भी कर रहा था, साथ ही राजनीतिक स्थिरता को भी। ऐतिहासिक चेतना हमें ऐसा कार्य दिखलाती है, जिस पर चल हम अतीत और वर्तमान दोनों को समझ सकते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को कालखण्डों में बाँटने का कार्य सर्वप्रथम मिश्रबन्धुओं ने किया और इसका समय १४४५ से १६८० विक्रमीय तक माना। (५) आचार्य शुक्ल ने सम्वत् १३७५ से १७०० तक के साहित्य को पूर्व मध्यकाल या भक्तिकाल के अन्तर्गत रखा है। (६) मध्यकाल का ऐतिहासिक अध्ययन मुगल काल का अध्ययन है। मुगलों की राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक नीतियां हमें मध्यकाल की चेतना से परिचित करवाती हैं। शेरशाह सूरी का भूमि-प्रबन्ध, शाहजहां की भवन-निर्माण-कला में रुचि, बड़े-बड़े बाग, भवन मध्यकाल की धार्मिक ऐतिहासिकता के प्रतीक हैं। कलाओं के सन्दर्भ में मुसलमान अधिक लोकप्रिय थे। ताजमहल तथा सारे बाग उसी समय में निर्मित हुए। यह सामन्त युग था, जिसमें जागीरदारों के पास बड़ी-बड़ी जागीरें थीं, जो सैंकड़ों भवनों का मालिक था उसे सूबेदार कहते थे। वह सारा वर्ग ऐशप्रस्ती का था और शोषित वर्ग का जीवन अत्यधिक अपमानजनक स्थिति में था। सामन्तीय व्यवस्था के फलस्वरूप यह अच्छा कार्य हुआ कि संस्कृति और कलाओं को प्रोत्साहन मिला।

अतः मध्यकाल एक ऐसा रोशनी का आलोक पुंज है, जिसकी सहायता से हमें अपने छोड़े हुए रास्ते तथा आगे ग्रस्त किए गए रास्ते को देख सकते हैं। मानव जीवन के विकास के क्रमबद्ध आलेख का नाम इतिहास है। वस्तुतः इतिहास मानवता की वह जययात्रा है, जो पुनरुत्थान के बीच गतिशील होती हुई निरन्तर प्रगतिशील

५. मिश्रबन्धु, मिश्रबन्धु विनोद, १९१३ ई. (भाग—१-२) लखनऊ : गंगा पुस्तक माला।

६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास (काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९२९ ई.), पृष्ठ ५२।

है एवं जिसका ज्वलन्त वर्तमान अपने अतीत एवं अनागत के साथ सम्बन्ध है। (७) यही सब विशेषताएं होने के कारण मध्यकाल स्वर्ण युग है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में मध्यकाल का साहित्य ही पूर्ण व विस्तृत है। इस युग में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक सांस्कृतिक, दार्शनिक और साहित्यिक क्षेत्रों में पर्याप्त परिवर्तन, वदलाव व संघर्षों के घटकों का वोलबाला रहा है।

मध्यकाल की अवधारणा और काल निर्णय के अनुसार मध्यकाल आठवीं शताब्दी अर्थात् शंकराचार्य से आरम्भ होता है। भारतीय इतिहासकारों में कुछ ने छठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के काल को मध्यकाल माना है। प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपनी पुस्तक मध्यकालीन भारतीय संस्कृति को ६०० इस्वी से १२०० इस्वी तक सीमित रखा है। (८) भारतीय इतिहास में काल-विभाजन का क्रम विशिष्ट राजसत्ताओं एवं राजवंशों से सम्वद्ध है। मुस्लिम शासन की स्थापना के पूर्व काल को इतिहासकारों ने प्राचीन काल ठहराया है तथा बृटिश शासन की स्थापना के उत्तर काल को आधुनिक काल की संज्ञा दी है। इन दोनों के बीच का युग मुस्लिम प्रभुत्व का काल मध्यकाल कहा जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमीय विचारकों ने साधारणतः सन् ४७६ ईस्वी से लेकर १४४३ ई. तक के काल को मध्ययुग कहा है। (९)

मध्यकाल से तात्पर्य युग के अतीत और वर्तमान की वह कड़ी है, जो न तो अतीत की तरह ही एकान्त रूप में अतीत हो गयी है और न ही वर्तमान की भाँति पूर्णतया प्रत्यक्ष है। यह शब्द वस्तुतः अंग्रेजी के—मिडिल एजेज्—के अनुकरण पर वना लिया गया है। मध्यकाल की सीमा पर कई इतिहास दृष्टि से काम हुआ है। साहित्य का इतिहास लिखने वालों ने इसका आरंभ १० वीं शतीं से माना है परन्तु इतिहासकार इसका आरंभ छठी शताब्दी से मानते हैं।

---

७. केरानी प्रसाद चौरसिया, मध्य कालीन हिन्दी सन्त : विचार और साधना (इलाहाबाद : हिन्दुस्तानी एकेडमी, १९६५) पृष्ठ १।

८. केरानी प्रसाद चौरसिया, मध्यकालीन हिन्दी सन्तःविचार और साधना (इलाहाबाद : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, १९६५) पृष्ठ २।

९. हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्य कालीन धर्म साधना, इलाहाबाद साहित्य भवन लि० द्वितीय संस्करण १९५६ ई.) पृष्ठ १०।

रोमिला थापर का कहना है कि वह मध्यकाल की शुरुआत १२ वीं शती से इसलिए मानती हैं कि जाति प्रथा उस समय शुरू हो गई थी, लोकभाषा आ गई थी। संस्कृत १० वीं शती की है और उस समय क्षेत्रीय भाषाएँ सिर उठाने लगी थीं। वह लगभग हर्षवर्धन की मृत्यु से मध्यकाल का आरम्भ और मुगल साम्राज्य का पतन तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना को मध्यकाल का अन्त मानती हैं। अर्थात् मध्यकाल का समय ७ वीं से १८ वीं शती तक ७०० वर्षों तक रहा। (१०)

डा० आर० सी० मजूमदार ने हिस्ट्री आफ इंडिया को तीन भागों में लिखा और दूसरे भाग का नाम हिस्टरी आफ मेडीवियल इंडिया रखा। ये मध्यकाल को दो दृष्टियों से देखते हैं : पहले में मुसलमानों का आगमन और दूसरे को मुगल साम्राज्य का युग माना है। मजूमदार मध्यकाल की शुरुआत १० वीं शती से तथा अन्त १८५७ से स्वीकारते हैं। (११)

इरफान हवीव के अनुसार, सारा मुगलकाल मध्यकाल की भावभूमि है। इनके मतानुसार आठ वीं शती से मध्यकाल का आरंभ है और अपनी पुस्तक मध्यकालीन भारत को तीन खण्डों में प्रकाशित किया है। यह अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में प्रो० और अध्यक्ष थे। यह मध्यकाल को १० वीं से १९ वीं शती के उत्तरार्द्ध तक अर्थात् ८०० वर्षों का समय निर्धारित करते हैं। मध्यकाल में इन्होंने दो साम्राज्यों व संस्कृतियों हिन्दू और मुसलमान का संयुक्त रूप देखा है। (१२)

रामशरण शर्मा की हिन्दी पुस्तक सामन्तवाद है। यह कोई प्रसिद्ध इतिहासकार नहीं थे बल्कि पंजाव यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर थे। इनके अनुसार मध्यकाल की प्रमुख प्रवृत्ति सामंतीय व्यवस्था है, जिसकी दो धारणाएँ हैं : शासन का निरंकुश ढांचा और सत्ता की विभागहीनता, सामंतीय व्यवस्था का प्रसार। (१३)

---

१०. रोमिला थापर, भारत का इतिहास (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, १९७५), पृष्ठ ७०।

११. आर० सी० मजूमदार, एन एडवांस हिस्ट्री आफ इंडिया

१२. इरफान हवीव, मध्यकालीन भारत (नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, १९९०).

१३. रामशरण शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास (नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, १९

डा० जगतारसिंह ग्रेवाल मध्यकाल के विद्वान हैं। उन्होंने मध्यकाल के बारे में चिन्तन किया है। इन्होंने अपनी पुस्तकों— गुरु नानक इन हिस्टरी इम्पेक्ट आफ इस्लाम, हिन्दूइजम मेडीएवल पीरियड एण्ड इम्पेक्ट आफ सूफी हिन्दूइज़म— में हिन्दू मुस्लिम धर्मों की आस्थाओं के बारे में लिखा है। मध्यकालीन साम्राज्य के पतन के साथ ही यह काल भी पतन की चरम सीमा पर था। (१४)

डॉ० श्यामसुन्दर ने अपनी पुस्तक में वीरगाथा काल का संवत् १०५० से १४०० ई. तथा भक्तिकाल को संवत् १४०० से १७०० ई. तक माना है। शेष काल-विभाजन में उन्होंने कोई परिवर्तन नहीं किया।

वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी के उत्तर मध्य ही पुनः राजनीतिक विघटन, सामाजिक अव्यवस्था और सांस्कृतिक ह्रास के उत्तर मध्य युग का क्रम आरम्भ हो गया, जो १८ वीं शताब्दी तक चरम सीमा को पहुँच गया। (१५) प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य एवं इतिहास के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। (१६) ५ वीं से १६ वीं शती तक के समय को मध्यकाल कहना बहुत रूढ़ हो गया है क्योंकि इस अवधि की ऐतिहासिक परिस्थितियां बहुत अंशों तक हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को प्रभावित करती हैं।

इतिहास में कार्य कारण का प्रतिफलन बहुत धीमी गति से होता है। अतः एक काल के अवसान एवम् दूसरे काल के आरम्भ की तिथि निर्धारित करना बहुत कठिन कार्य है। मध्यकाल के प्रारंभ की निश्चित तिथि तो शायद नहीं दी जा सकती, परन्तु कुछ महत्वपूर्ण तिथियों और ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख अवश्य किया जा सकता है, जिससे कार्यकारण शृंखला को खोजने में आसानी हो।

---

१४. जगतार सिंह ग्रेवाल, गुरु नानक के धार्मिक चिन्तन के मूलाधार (अमृतसर : गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी १९७१)।

१५. आलोचना त्रैमासिक पत्रिका, अंक १०, पृष्ठ ७।

१६. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास (काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, २०४८) प्रथम संस्कण, पृष्ठ ३।

मध्यकाल की एक ऐसी ही निर्णायक घटना सम्राट हर्षवर्धन (६४७ ई.) की मृत्यु है, जिसके दूरवर्ती प्रभाव हुए हैं। हर्ष की मृत्यु से उस महान व्यवस्था का लोप हो गया जिसने चार शताब्दियों तक भारत को हिन्दू राज्य बनाए रखा। हर्ष के बाद कोई प्रतिभाशाली सम्राट नहीं हुआ, जिसके कारण लगातार बाहरी आक्रमण हुए। अतः हताश हुई हिन्दू जाति ने मुस्लिम, तुर्क आदि के अत्याचारवश ईश्वरीय राह को अपनाया, जिससे एक नई भक्ति लहर का आरम्भ हुआ।

दूसरी मुख्य ऐतिहासिक घटना जो मध्यकाल का काल निर्धारण करती है, वह है भारत में इस्लामिक शक्ति का प्रवेश। मुसलमानों के बार-बार होने वाले हमलों और इस्लाम विस्तार की लालसा इसकी कोई एक निश्चित तिथि नहीं दी जा सकती। सन् ७१२ ई. में सिंध पर मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण हुआ परन्तु भारतीय जनता पर उसका कोइ स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सका। ११ वीं शती में महमूद गजनवी के आक्रमण प्रारम्भ हुए और १२ वीं शती में मुहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण कर दिया, जिसका स्थायी प्रभाव पड़ा। वह भारत को केवल लूट कर जाना नहीं चाहता था, अपितु उस पर शासन करना चाहता था। सन् १२०६ ई. में गोरी के देहान्त के पश्चात् कुतुबुदीन एबक ने शासन संभाला और देश में मुसलमान राज्य की नींव पड़ी।

मध्यकालीन व्यवस्था बहुत दिनों तक चलती रही, औरंगजेब की मृत्यु (१७०७) के साथ परिवर्तन के कुछ चिह्न प्रकट होते हैं। परन्तु आधुनिक प्रवृत्तियों का विकास बहुत बाद में जाकर हुआ। सन् १८५७ में अंग्रेजी शासन की नींव दृढ़ होती है और बहादुरशाह जफ़र की मृत्यु के साथ ही एक नया युग भारत में आरम्भ होता है।

अतः स्थूल रूप से उपर्युक्त ऐतिहासिक घटनाओं के समयानुसार मध्यकाल की सीमा सन् ६४७—१८५७ ई. तक मानी जा सकती है।

इतिहास मानव की गौरव-गाथा है। इतिहास के बिना मानव गाथा का प्रत्येक वर्णन अधूरा है। मानव एक ऐतिहासिक प्राणी है, जो वर्तमान के साथ अतीत को भी लेकर चलता है, इसलिए मनुष्य अपने सम्पूर्ण अस्तित्व एवम् चेतना सहित इतिहास का अंग है। स्पेंगलर के अनुसार :—

'इतिहास स्पष्टतः इस सीमा तक प्रत्येक मनुष्य के लिए है कि प्रत्येक मनुष्य

अपने सम्पूर्ण अस्तित्व एवम् चेतना सहित इतिहास का अंग है।' (१७)

इतिहास मनुष्य को अपने विवेक के प्रयोग द्वारा अपने परिवेश को समझने तथा उसका परिष्कार करने की दिशा में एक दीर्घकालिक संघर्ष है।

आधुनिक युग से पूर्व इतिहास साहित्य की ही एक विधा थी। इनमें स्पष्ट भेद १७ वीं शती में किया गया। साहित्य शव्द का अर्थ सा-हित् अर्थात् सामूहिक हित है। इतिहास शव्द का मूल अर्थ इति+ह+आस अर्थात् यह वास्तव में हुआ था का द्योतक है।

ऐमण्ड ऐरन ने कहा है कि— इतिहास अपने संकुचित रूप में यह धरती, आकाश, नक्षत्रों, जीवों तथा सभ्यता के विकास का अध्ययन है, ठोस रूप में इतिहास का तात्पर्य निश्चित तथ्य से है तथा अपने औपचारिक रूप में यह उस तथ्य का ज्ञान है। (१८)

इतिहास सिर्फ नामों, तिथियों और घटनाओं की क्रमवद्ध तालिका नहीं है, यह अतीत के मानव समाज द्वारा किए कार्य-कलापों का अध्ययन तथा विश्लेषण है। यह मानवीय वैज्ञानिक विद्या है, जो अतीत के आलोक में भविष्य पर प्रकाश डालता है, एवं प्राकृतिक या भौतिक परिवर्तन को व्याख्यात करता है। इस प्रकार इतिहास मनुष्य आधारित है और साहित्य मनुष्य—समाज का दर्पण है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास - लेखन की परम्परा विदेशी विद्वानों से ही आरम्भ होती है। अतः हिन्दी साहित्य के काल - विभाजन का श्रेय सर्वप्रथम फ्रेंच विद्वान गासी— द- तासी को १८३९ में असफल रूप में जाता है क्योंकि इन्होंने केवल कवियों और इनकी कृतियों का ही संकलन किया। पश्चिमी विद्वान होने के कारण भारतीय संस्कृति का सीधा साक्षात्कार नहीं होने से इन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा' में अपनी भूलों को स्वयं स्वीकार किया है।

---

१७. ओसवाल्ड स्पेंगलर, दि डेक्लाइन आफ दि वेस्ट (लण्डन : एलिन एण्ड अनवन लि०, पांचवां संस्करण, १९५५), पृष्ठ ८।

१८. रेमण्ड ऐरन, इण्ट्रोडक्शन टू दी फिलासफी आफ हिस्ट्री (वोस्टन, १९६२), पृष्ठ १५।

हिन्दी साहित्य के काल - विभाजन के प्रथम सफल विद्वान डा० जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन को माना जाता है। इन्होंने अपनी पुस्तक 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर' में हिन्दी साहित्य के इतिहास का नींव पत्थर रखा जिसपर आचार्य शुक्ल ने अपने सुप्रसिद्ध इतिहास का भव्य-भवन निर्मित किया है। (१९) ग्रियर्सन के ग्रन्थ को हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास का नाम रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बेंगाल ने सन् १८८५ में दिया। इसमें ९५२ लेखकों के नामों और उनकी कृतियों की सूचना दी गई है।

एडविन ग्रीफस ने प्रायः आठ सौ वर्षों के हिन्दी साहित्य को पांच कालों में विभक्त कर उनका व्यंजनात्मक ढंग से विश्लेषण किया है। प्रायः प्रत्येक नाम अपने काल की गाथा स्वयं कहता है:—

१. आरंभिक काल — ८०० से १४००
२. रचनात्मक काल — १४०० से १५८०
३. विस्तार काल — १५८० से १७००
४. स्थिर काल — १७०० से १८००
५. पुनर्जागरण और परिवर्तन काल १८०० से अब तक।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सामाजिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों आदि तत्कालीन विभिन्न रुचियों के रूप में संचारित और पोषित व्यवस्था के अनुसार हिन्दी - साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया है...

१. आदिकाल (वीरगाथा काल) संवत १०५० — १३७५
२. पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) संवत् १३७५ — १७००
३. उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) संवत् १७०० — १९००
४. आधुनिक काल (गद्यकाल) संवत् १९०० — अब तक।

शुक्ल जी ने भक्तिकाल और रीतिकाल को मध्यकाल के अन्तर्गत माना है। (२०)

---

१९. किशोरीलाल गुप्त, हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास (साहिबाबाद : विभू प्रकाशन, १९७८), पृष्ठ ५।

२०. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास (काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, १९२९ ई.), पृष्ठ ६७।

उनके अनुसार पूर्व मध्यकाल और उत्तरमध्यकाल में रीति-नीति और भक्ति तीनों प्रकार की रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

डा० रामकुमार वर्मा ने १९३८ में हिन्दीं कविता का आलोचनात्मक इतिहास नामक ग्रन्थ लिखा। इन्होंने मध्यकाल को भक्तिकाल और रीतिकाल में बाँटते हुए १३ वीं शती से १९ वीं शती तक इसकी सीमा मानी है। इनके अनुसार मध्यकाल का समय १३७५ से १७०० तक निश्चित होता है, जिसका काल-विभाजन इस प्रकार है :—

१.	संधिकाल	संवत	७५० — १०००
२.	चारण काल	संवत्	१००० — १३७५
३.	भक्तिकाल	संवत्	१३७५ — १७००
४.	रीतिकाल	संवत्	१७०० — १९००

अतः हम कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया विभाजन अपने पूर्ववर्ती लेखकों से अधिक व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक रूप का है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य का आदि काल, हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी साहित्य का उद्भव व विकास, मध्यकालीन बोध का स्वरूप पुस्तकें लिखी हैं, जिसमें उन्होंने मध्यकाल का आरम्भ जब सिद्धनाथ योगी अपना प्रचार कर रहे थे जैसे गोरखनाथ से माना है। उनके अनुसार संस्कृत साहित्य अलौकिक भाषा में लिखा साहित्य है, जो लोक भाषा साहित्य का माध्यम बनती है। साहित्य का इतिहास पुस्तक, लेखक का क्रमवद्ध अध्ययन नहीं बल्कि युग से सम्बंधित इकट्ठी की गई जानकारी से होता है।

द्विवेदी के अनुसार — 'जो सांस्कृतिक चेतना मध्यकाल के भक्ति-युग में पैदा हुई वह एक व्यवस्थित आन्दोलन का रूप न लेकर उनमें जो परिवर्तन हुए उनसे एक नया बोध हुआ। उनके अनुसार आधुनिकता बोध और मध्ययुगीन बोध का साहित्य इसी समय रचा गया। जब तक भाषा में मूलभूत परिवर्तन नहीं होता इतिहास में कोई परिवर्तन नहीं होता है।'

डा० नगेन्द्र के अनुसार :— 'मध्यकाल के काल-विभाजन के लिए उस युग से शुरुआत करनी चाहिए, जब भारत पर बाहरी आक्रमण हुए। गोरी के समय से सिलसिला शुरू होता है और ईस्ट-इंडिया कम्पनी के आगमन का सारा समय

मध्यकाल का ही है। तव प्रेस भी आ गया था। अतः यह समय मध्यकाल का अन्त था। कई सामाजिक संस्थाएं पैदा हो गईं थीं। इसीलिए आधुनिक काल न होकर मध्यकाल आधुनिकता की पृष्ठभूमि तक खत्म हो जाता है। (२१)

अतः स्पस्ट है कि १७०० ई. के वाद हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एकाएक महान परिवर्तन हुआ। साहित्यकारों के अनुसार भक्ति साहित्य का लगातार ३०० वर्षों तक का सृजन होने के बाद नितान्त लौकिक प्रवृत्तियों से प्रेरित रीति साहित्य का २०० वर्षों तक सृजन होना एक महान परिवर्तन था। इसलिए साहित्येतिहासकारों ने इसका समय १४ वीं १९ वीं शताब्दी तक माना है।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को काव्य-कला की दृष्टि से अधिक समृद्ध कहा जा सकता है। यदि मध्ययुग के समस्त हिन्दी काव्य का अनुसंधान किया जाए, हस्त-लेखों का संकलन कर सम्पूर्ण भक्तिकाव्य, रीति-काव्य एवं स्वच्छन्द रीति मुक्त काव्य का समन्वित रूप से आकलन हो तो निश्चित रूप से वह सर्वाधिक श्रेष्ठ कवियों तथा सर्वधिक काव्य कृतियों का भण्डार सिद्ध हो सकता है। आचार्य शुक्ल मध्यकालीन प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए मध्य कालिक विचार विन्दुओं को दार्शनिक सम्प्रदायों, धार्मिक समुदायों तथा कलात्मक संस्थाओं की एक ऐसी शिरोरेखा घोषित करते हैं, जो काल की सामाजिकता को रेखांकित करती है :—

शुक्ल जी ने मध्यकाल के सम्पूर्ण कालक्रम का प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकरण पूर्वमध्यकाल और उत्तरमध्यकाल में किया है। पूर्व मध्यकाल में भक्ति प्रधान और उत्तर मध्यकाल में रीति आधारित शृंगारिक काव्य रचा गया। साहित्यिक दृष्टि से मध्यकाल में रीति, भक्ति और नीति प्रधान रचनाओं की प्रमुखता थी। रीतिकाल से पूर्व भक्ति का उत्तरोत्तर विकास हुआ। अतः इस समयावधि में रचे गए साहित्य को हम निम्नलिखित शीर्षकों से जान सकते हैं :—

निर्गुणकाव्य या संतकाव्य धारा में ईश्वर को निर्गुण रूप में मानते हुए बहुदेववाद तथा अवतारवाद पर अविश्वास प्रकट किया। इन कवियों ने गुरु को ईश्वर से भी श्रेष्ठ स्वीकार किया है। जाति-पाति और रूढ़ियों एवम् आडम्बरों का विरोध इनका

---

२१. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास (दिल्ली : नेशनल पब्लिकेशन, १९७३), पृष्ट ४७।

प्रथम उद्देश्य था। निर्गुण भक्ति काव्य के संबंध में मोती सिंह का कथन है— 'निर्गुण साहित्य में दो प्रकार की प्रधान प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक प्रवृत्ति तो साधना जन्य है और दूसरी खण्डनात्मक, जिसमें उस समय के समाज में प्रचलित नाना प्रकार की रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और वाह्याचारों का विरोध हुआ है। यह ज्ञानमार्गी शाखा थी, जो संसार को माया जान त्याग कर जंगलों में मुक्ति या मोक्ष प्राप्ति के लिए चले जाते थे। यह ईश्वर व परमज्ञान की खोज में रहते थे।'

सूफी काव्य धारा भी निर्गुण काव्य का ही अन्य रूप था। इसमें प्रेम की ही प्रधानता दी गई है और प्रेम द्वारा ही ईश्वर तक पहुंचने में विश्वास रखती है। इसमें मध्यकालीन नई धाराओं का विकास हुआ, जिसे विभिन्न संज्ञाओं जैसे प्रेम मार्गी, प्रेमकाव्य, प्रेम कथानक, प्रेमाख्यान तथा सूफी काव्य आदि से अभिहित किया गया है। इस साहित्य में प्रेम तत्व को महत्व देकर उसे ही मानव जीवन की सर्वोतमता का प्रतीक माना है। वस्तुतः ये तथ्य इस बात के द्योतक हैं, इस परम्परा के काव्य - ग्रन्थों में प्रेमतत्व की प्रमुखता थी जिसका रूप भौतिक न होकर आध्यात्मिक था, जो भारत के वेदान्त दर्शन से समता रखता है।

सगुण काव्य परम्परा में रामकाव्य धारा प्रमुख है, जिसमें हिन्दी साहित्य के गोस्वामी तुलसीदास ने राम को अपना आराध्य माना है। शील-शक्ति सौन्दर्य-गुण-सम्पन्न राम की प्रतिष्ठा पुरुषोतम पुरुष के रूप में राम चरित मानस में की है।

आचार्य शुक्ल के अनुसार — 'गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए। हिन्दी काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रभाव इनकी रचनाओं में ही पहले-पहल दिखाई पड़ा।'

सगुण भक्ति का एक अन्य रूप कृष्ण काव्य धारा है, जिसके आराध्य देव कृष्ण स्वीकारे गये हैं। कृष्ण के विभिन्न रूपों को रचनाबद्ध करना ही इस धारा का लक्ष्य है। इस धारा के प्रवर्तक सूरदास ने एक प्रतिनिधि कवि के रूप में अपने काव्य में भावुकता व प्रतिभा पर बल दिया है। उन्होंने साख्य भाव से भगवान कृष्ण की मनोहर और मंगलमय मूर्ति की प्रतिष्ठा की है। इस काल में राधावल्लभ, निम्बार्क, गौड़ी, हरिदासी, सखी सम्प्रदाय आदि का प्रवर्तन हुआ।

रीतिकाव्य मध्यकाल का एक अन्य शृंगारिकता प्रधान काव्य है। इसकी सृष्टि सामन्तीय वातावरण में हुई है। इस समय दरबारी कवि ने स्वान्त : सुखाय की रचना

की आशा की जा सकती थी। किन्तु फिर भी रीति के अतिरिक्त भक्ति, वीर आदि रचनाओं की मुक्त रूप में निःस्वार्थ रचनाएं की हैं। इस समय रीतिसिद्ध, रीति-मुक्त और रीतिवद्ध तीनों रूपों की रचनाएं प्राप्त होती हैं। जिसमें वीर, भक्ति, प्रेम आदि तत्व पाये जाते हैं।

मध्यकाल में भारतीय कला की विभिन्न शैलियों का विकास हुआ। स्वदेश व विदेश में भव्य मंदिरों का निर्माण हुआ। पूर्व मध्यकाल की कला अधिक उन्नत रही। उसमें लालित्य वढ़ गया था, परन्तु उत्तरमध्यकाल में अलंकरणों पर वहुत वल दिया जाने लगा। वस्तुकला के उत्तर-भारतीय और द्रविड़ कलाएं दो रूप थे। ६०० से ९०० ई. तक मूर्तिकला की प्रधान विशेषता घटनाओं के वड़े - वड़े दृश्यों का सफल अंकन है। (२२) इसमें एलोरा, मामल्लपुरम् और एलिफेण्टा केवल प्रमुख हैं।

आठवीं शती के वाद अजन्ता जैसे वृहत आकार के भित्ति-चित्र भारत में लोक प्रिय रहे, लघुचित्रों की अभिरुचि वढ़ी। ये चित्र ग्रन्थों को अलंकृत एवं चित्रित करने के लिए वनाए जाते थे। इनकी प्रमुख दो शैलियां वंगाल की पांन शैली जो नवीं से १२ वीं शती तक और अपभ्रंश शैली ११०० से १६०० ई. प्रचलित थीं। पहली शैली का विषय वौद्ध था और जिसकी विशेषताएं रेखाएं और सरल रचना थी। दूसरी शैली ५०० वर्ष तक ताड़पत्रों पर होती रही। इसकी विशेषता कोणाकार चेहरा, नुकीली नाक, चेहरे की रेखा से आगे वढ़ी आंखें और अलंकार प्रधानता थी। शुरू में साधारण रंगों का प्रयोग होता था वाद में सुनहरी और चटकोले रंगों का खूव प्रयोग होने लगा। (२३)

संगीत की दो परम्पराएं इस काल में प्रचलित थीं — वैदिक और आगनिक। पूर्व मध्य युगीन परम्परा में वैदिक मन्त्रों के समान ही राग के ऋषि छंद और ध्यान कल्पित हुए थे। इन्होंने राग के ध्यानों में राग माला की चित्रावली उपस्थित की जो काफी वाद तक चलती रही। इन कवियों ने अधिकांशतः मुक्तक गीतियों

---

२२. हरिदत्त वेदालंकार, भारत का सांस्कृतिक इतिहास (दिल्ली : आत्माराम एंड संस, १९६२), पृष्ठ १९०।

२३. हरिदत्त वेदालंकार, भारत का सांस्कृतिक इतिहास (दिल्ली : आत्माराय एण्ड सन्स, १९६२), पृष्ठ २०।

Bombay
4.4.35

प्रिय [illegible] जी, वन्दे।

आपका पत्र [illegible] कई दिन हुए मिला था, लेकिन [illegible] के [illegible] में और उसके [illegible] [illegible] का [illegible] [illegible] हूँ। [illegible] मैं [illegible] [illegible] रहा हूँ।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] हूँ, लेकिन [illegible] [illegible] है। [illegible] हूँ।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हैं। लेकिन [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] हैं। [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] को [illegible] हैं और [illegible] [illegible] [illegible] का [illegible] है कि [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible] में

[illegible]

मुन्शी प्रेमचन्द : हजारीप्रसाद द्विवेदी।

और गीति नाट्यों की रचना की जिसमें संगीत का सविशेष योग रहता है। (२४)

काव्य का सजीव तथा पूर्ण रूप सांस्कृतिक परिपार्श्व में ही निखरता है। प्रत्येक संस्कृति की कुछ अपनी विशेषताएं होती हैं। पूर्व मध्यकाल में शृंगारिकत की प्रवृत्ति और अलंकरण - वृत्ति दो संस्कृति की विशेषताएं हैं। शृंगारिकता में खुजराहो, भुवनेश्वर, ओसिया में प्राप्त मूर्तियों में वौद्धों, शाक्तों, शैवों की तांत्रिक प्रतिमाओं धार्मिक, दार्शनिक विचारों के भक्तिपूर्ण भाव दिखाईं पड़ते हैं। 'व ण' व्यक्ति के स्वःभाविक गुणों पर टिके हुए हैं। शृंगारिकता यदि पूर्व मध्यकाल की विशेष संस्कृति थी तो वर्ण मर्यादा भारतीय सामान्य संस्कृति की प्राचीन विशेषता थी। ७ वीं ८वीं शती में मूर्तिकला में अलंकरण इतना वढ़ा कि उसने नवीन अभिप्रायों को विल्कुल दवा दिया। (२५) अनेकता में एकता उसका मूल मंत्र रहा है। धर्म, दर्शन की लोक मांगलिक पृष्ठभूमि में समाज और साहित्य का निर्माण हुआ है। वैविध्य होते हुए भी जीवन के शाश्वत मूल्य परस्पर गुथे हुए हैं। इसलिए एक धर्म, सम्प्रदाय, साहित्य और संस्कृति दूसरे धर्म, सम्प्रदाय साहित्य और संस्कृति से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकती। (२६) वाह्याडम्वर के साथ ही आचार - शैथिल्य वढ़ गया। वैदिक जैन और वौद्ध धर्मों के विकास और परिवर्तन के विविध स्वरूप विशेष रूप से लक्षित होते हैं। साहित्य साधना की अविरल धारा में उनका आध्यात्म जीवन सदैव रहस्य भावना में आप्लावित रहा है।

मध्यकाल में विभिन्न काव्य - धाराओं का आविर्भाव भारतीय इतिहास की एक अभूतपूर्व धटना है। देश के प्रायः प्रत्येक भाग में भारतीय जीवन को नया अर्थ और नयी दिशा देने के लिए विलक्षण वुद्धि सन्त, मध्य युग में उत्पन्न हुए और देश की सम्पूर्ण जनता को अधोगति के मार्ग से हटा कर परमार्थ के सोपान पर अग्रसर करा दिया। प्राकृत भाषाओं के रूप को निखारने में सन्तों का वहुत वड़ा

---

२४. रामनरेश वर्मा, हिन्दी सगुग काव्य की सांस्कृतिक भूमिका : साहित्य और कला (वाराणसी : नागरी प्रचारिणीसभा, १०००), पृष्ठ २।

२५. वही., पृष्ठ ९।

२६. श्रीमती पुष्पलता जैन, मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में रहस्य भावना, (नागपुर : सन्मति विद्यापीठ, १९८४), पृष्ठ ६।

योगदान है। हिन्दी भाषा और साहित्य के निर्माण में तो सन्तों का वहुत वड़ा योगदान है। सिद्धों, नाथों, सूफियों एवं सन्त भक्तों की सम्मिलन भूमिका का निर्माण इसी काल में होता है। भारतीय संस्कृति और उसकी आध्यात्मिक विचारधारा के सम्यक् अनुशीलन के लिए मध्यकालीन साहित्य और उसकी साधना एक महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

मानव जीवन के विकास के क्रमबद्ध आलेख का नाम इतिहास है। इतिहास में विभिन्न मानव जातियों के अनेक कार्यकलापों की विचित्र गाथाओं का उल्लेख रहता है, किन्तु इस अनैक्य में भी ऐक्य की भावना गुम्फित रहती है। आजकल की सर्व सामान्य प्रणाली के अनुसार भारत के इतिहास को प्राचीन मध्य तथा आधुनिक युग में विभक्त किया जाता है। यदि किसी जाती को जीवनगत एकता एवम् अविच्छिन्नता को न भुलाया जाए, तो पूर्वोक्त विभाजन ही उचित है। यद्यपि समय अप्रतिहत गति से आगे वढ़ता जाता है। तथापि अध्ययन की सुविधा के लिए उसका विभाजन आवश्यक है।

—o—

भारतीय मध्यकाल : सांस्कृतिक संयोजन : निर्गुण काव्य : धारा के विपरीत

प्रेमशंकर

सांस्कृतिक संयोजन में उन वर्गों की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं है, जो धर्म-परिवर्तन कर इस्लाम में आए थे। सैद्धान्तिक रूप से इस्लाम में जाति-उपजाति की कोई गुंजायश नहीं है, पद-प्रतिष्ठा के आधार पर वर्ग-भेद हो सकते हैं। मध्यकाल में जिसे 'अशरफ़' कहा गया, वह भी उच्च वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है और उसमें अरव, तुर्क, अफ़गान, फ़ारसियों के वंश से सम्वद्ध लोग थे। इन्हें दरवार में स्थान प्राप्त था और वे उच्च पदों पर थे। इसी प्रकार जो लोग द्विजों से धर्म-परिवर्तन कर इस्लाम में सम्मिलित हुए थे, उन्हें कुलीनता के आधार पर उच्च वर्ग में माना गया। इन विशिष्ट वर्गों की तुलना में सामान्यजन, चाहे किसी जाति-विरादरी के हों, समाज में उनकी स्थिति ठीक नहीं थी। मध्यकाल में साधारण पेशों में लगे लोग श्रमिक की स्थिति में ही थे, जैसे किसान, मजदूर, कारीगर आदि। एक ही पेशे की दोनों जातियों के लोगों में अधिक भेद-भाव न था और इसे व्यवसाय की समानता कहा जा सकता है। विचारणीय यह है कि मध्यकाल में उस प्रकार का साम्प्रदायिक संघर्ष नहीं दिखाई देता, जैसा साम्राज्यवादी समय में। सामाजिक सौमनस्य के निर्माण में राजाश्रय की भूमिका सीमित है, पर धर्म-परिवर्तन कर आए हुए वर्ग के लिए अपने पुराने संस्कारों, रीतियों, यहां तक कि कुछ प्रचलित परम्पराओं से पूरी मुक्ति पाना सरल नहीं था। इस विंदु पर जातीय सौमनस्य का विकास हुआ कि कई परम्पराओं में, विशेषतया लोकोत्सव में वे एक साथ थे। इस दृष्टि से भारत का मध्यकालीन ग्राम-समाज पारस्परिक निर्भरता और सहयोग का उत्कृष्ट उदाहरण है। पेशों में लगे लोगों में एक भाईचारा था, वे किसी भी जाति के हों। गांव का खुला जीवन सौमनस्य का वोध करता है, व्यवहार स्तर पर जिसमें जातियों में आपसी संवाद है।

भारतीय मध्यकाल में कई संसार एक-साथ देखे जा सकते हैं, और इनसे मिलकर उस समय का सामाजिक - सांस्कृतिक वृत्त पूरा होता है। जातियों का पार्थक्य था जिसे कट्टर पुरोहित, उल्मा बनाए रखने में रुचि रखते थे क्योंकि उनके निहित स्वार्थ थे। संसार के इतिहास में सभी धर्मों, सम्प्रदायों के कट्टरपंथियों में इस

प्रकार के अनुदारवादी दृश्य देखने को मिलते हैं, जिससे जातीय टकराहट बढ़ती है। साथ ही समाज में अन्धविश्वास, रूढ़ि, कर्मकाण्ड आदि के प्रतिगामी विचार फैलते हैं। शास्त्र की मनचाही व्याख्याएं कट्टरपन की उपज कही जा सकती हैं, जब उसके सहारे समाज को संचालित करने का प्रयत्न किया जाता है। समय के साथ परिवर्तन एक प्रगतिशील कदम है और अपनी सीमाओं में मध्यकाल ने इस दिशा में प्रयत्न किए। हिन्दू जाति कई उपजातियों में विभाजित थी और वर्ण-भेद के अतिरिक्त अस्पृश्यता का अभिशाप भी मौजूद था। समाज की सेवा करते हुए उनके जो पेशे निम्न मान लिए गए उनके कारण उन्हें दूर रखा गया यथा शूद्र, अन्त्यज आदि। ब्राह्मण पुरोहित, मौलवी-उल्मा जो कि शास्त्र के व्याख्याता थे और पुरोहित भी, उनमें अधिक संवाद संभव न था और उन्हें मध्यकालीन कट्टरता का प्रतीक कहा जा सकता है। पर उनके अपने भी विचार-विभेद थे, जैसे शिया-सुन्नी अथवा शैव-वैष्णव के। एक ऐसी वैचारिक टकराहट थी, जिसका कोई व्यापक बौद्धिक आधार नहीं कहा जा सकता, वरन् वह पाण्डित्य का कुतर्क भी हो सकता है। बौद्धिक स्तर पर अलगाव कम करने की दिशा में एक प्रयत्न मुसलमान शासकों द्वारा भारतीय जीवन को जानने का प्रयत्न है। अल्बरूनी के अरबी ग्रंथ 'तारीखे हिन्द' का विशेष उल्लेख किया जाता है, जिसमें हिन्दू धर्म, दर्शन, ज्ञान का विवरण है। रामायण, महाभारत, उपनिषद, पुराण आदि का अनुवाद फ़ारसी में किया गया। स्वीकार करना होगा कि राजाश्रय के होते हुए भी बौद्धिक स्तर पर विचार-विनिमय का प्रयत्न सीमित रहा और इसे पूरी गति नहीं मिली। इसके लिए मध्यकाल के सन्त-भक्तिकाव्य ने अधिक सार्थक पहल की, जहां सांस्कृतिक सौमनस्य, उदारता, सहिष्णुता की प्रवृत्तियां मुखर हुई हैं। यह वृत्त सिद्ध नाथसे (८००—१२०० ई०) आरंभ होकर रामानंद (चौदहवीं शती), कबीर-जायसी से होता हुआ गुरु नानकदेव (१४६९—१५३८) तक फैला हुआ है।

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति को विशेषतया सल्तनत काल (११९२—१५२६) तथा मुग़लकाल (१५२६—१७०७) के मध्य स्थित किया जाता है। इसके अलग-अलग सांस्कृतिक चित्र भी बनाए जाते हैं और यह अनुभव किया जाता है कि सल्तनत काल के परवर्ती भाग में जो विकास हुआ, वह अकबर से शाहजहां तक अपनी पूर्णता पर पहुंचा। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्थितियाँ दिखाने के लिए विवरण, वृत्तान्त प्रस्तुत किए जाते हैं, जिनमें प्रायः मध्यकालीन इतिहास की सामग्री दस्तावेज़ के रूप में स्वीकार की जाती है। प्रो० मोहिब्बुल हसन ने

'हिस्टोरियन्स आफ मेडिवल इंडिया' का सम्पादन किया है। मध्यकालीन इतिहास सामग्री की सीमा-रेखा यह है कि उसे प्रायः राजाश्रय में लिखा गया: बाबरनामा, हुमायूंनामा, अकबरनामा, आइने अकबरी, जहांगीरनाम, शाहजाहाँनामा, आदि। इनके केन्द्र में सामन्ती समाज हैं और बहुमत सामान्यजन के लिए यहां अधिक अवसर नहीं हैं। इलियट के इतिहास और सैय्यद अतहर अब्बास रिजवी में मध्यकालीन सामग्री का संकलन है। इसके अतिरिक्त अमीर खुसरो जैसे लेखक हैं जो तत्कालींन समाज पर प्रकाश डालते हैं। कुछ यात्रियों के विवरण भी हैं जिनकी शुरुआत अलबरूनी से मानी जा सकती जिसने १०३०—३१ में अपना यात्रा-वृतान्त लिखा। आधुनिक इतिहासकारों ने अपने ढंग से मध्यकालींन समाज-संस्कृति का विवेचन करते हुए स्वीकार किया है कि उस समय की जो आधारभूत सामग्री (सोर्स मटीरियल) उपलब्ध है, उसमें सामाजिक-आर्थिक कारणों का विश्लेषण बहुत क्षीण है। यह उसकी सीमा-रेखा है (मोहिब्बुल हसनः हिस्टोरियन्स आफ मेडिवल इंडिया, भूमिका, पृ. १२) कि शासक और धर्म वहां इतिहास-दृष्टि को सीमित कर देते हैं। इस रूप में, कई सीमाओं के बावजूद, अबुल फज़ल को इतिहास के प्रति नये दृष्टिकोण का लेखक कहा जाता है, जिसमें एक उदारता है।

भारतीय मध्यकाल में जो कुछ रचा गया और जिसके सर्वोत्तम को भक्ति आन्दोलन की पीठिका पर उपजा भक्तिकाव्य कहा जाता है, जिसका प्रसार पूरे देश में, लगभग सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में है, वह सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से कुछ सहायक हो सकता है ? यह प्रश्न विचारणीय है। रचना में यथार्थ तथा कल्पना की समन्वित भूमि होती है, जिसमें समय-समाज का यथार्थ पुनर्सजित होता है। अलगा पाने का कार्य भी सरल नहीं होता, क्योंकि रचना न पूरी तरह दस्तावेज़ है और न कोरी कल्पना। पर मध्यकाल की रचनाशीलता, विशेषतया संतो की वाणी (वानी) तथा भक्ति रचनाओं में जो तत्कालीन दृश्य आए हैं, वे उस समय का संकेत करते हैं। यहां विवरण-विस्तार अधिक नहीं हैं, पर टूटते मूल्यों की त्रासदी व्यक्त हुई है। अकबर के समय में दुर्भिक्ष थे जिसका संकेत तुलसी में है: 'कलि बारहि बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।' मूल्यस्तर पर यह चिन्ता अधिक मुखर है, जिसे उस समय के रचना-साहित्य में देखा जा सकता है। इस संदर्भ में एक प्रासंगिक प्रश्न यह है कि क्या मध्यकाल के कवि केवल कवि थे? संभवतः नहीं। उन्हें संत, भक्त कहकर सम्बोधित किया गया और उनकी प्रतिबद्धताओं को भी रेखांकित किया गया। उनकी भूमिका सामाजिक-सांस्कृतिक भी है,

जहां वे समाज-सुधारक के रूप में देखे जाते हैं। अवुल फ़ज़ल ने टिप्पणी करते हुए लिखा है कि समाज में अधोमुखी वृत्तियां होती हैं और ऐसे में वादशाह का नैतिक दायित्व होना चाहिए कि वह उच्चतर मूल्य स्थापित करे (आइने अकवरी, खंड दो, पृ. २८५—८६)। सामंती समाज की कठिनाइयां थीं, ऐसे में उस समय के संत-भक्त कवि समाज-सुधारक भी कहे जा सकते हैं और सांस्कृतिक चित्र को पूर्णता देने के लिए उनकी भूमिका विचारणीय है।

मध्यकाल में उदार-कट्टर दृष्टियों की टकराहट मध्यकालीन विचारधारा और संस्कृति की सही समझ में सहायक है। दोनों प्रमुख जातियों में इनके प्रतिनिधि हैं, अपने निहित स्वार्थ के लिए। पर अकवर जैसे शासक यह नहीं स्वीकार करते कि राज्य को किसी पर धर्म थोपने का अधिकार है, और इसीलिए वह अधिक उदार नीति का पोषक है (परमात्मा सरन : द प्राविन्शियल गवर्नमेंट आफ़ मुग़ल्स, पृ. ४३०)। अकवर और औरंगजेव की पृथक दृष्टियां वताती हैं कि उदार-अनुदार विचारधाराएं संघर्षरत थीं। स्थापत्य, मूर्ति, शिल्प, वास्तु आदि की चर्चा अपने स्थान पर उपयोगी है, पर इससे मध्यकालीन भारत का सांस्कृतिक चित्र पूर्ण नहीं होता। इसके लिए उस समय की विचारधाराओं को समझना होगा। क्षितिमोहन सेन की पुस्तक 'मेडिवल मिस्टिसिज़्म इन इंडिया' में आर्थोडाक्स तथा लिवरल थिंकर्स (रूढ़िवदी तथा उदार विचारक) की चर्चा हुई है। उनका विचार है कि मध्यकाल के आरंभिक चरण में भारतीय समाज की वह ग्रहणशीलता दुर्वल थी, जिसने अव तक अनेक प्रकार की चिन्तन धाराओं के द्वार उसके लिए उनमुक्त रखे थे। वौद्धिक प्रतिभा तार्किक, क्षमता की कमी न थी, पर चिन्तकों में संयोजन-समीकरण के तत्त्व क्षीण थे (पृ. ७)। कट्टरता दोनों जातियों के धर्मनियामकों में थी, जिसे वनाए रखने में उनके निहित स्वार्थ भी थे। पर विचारणीय तथ्य यह है कि धार्मिक अंकुश के वावजूद, धर्मभीरु सामान्यजन, विशेषतया निम्न कहे जाने वाले वर्ग में सुगवुगाहट थी, विचलन का भाव था। कुछ वुद्धिजीवियों ने भी इस असंतोष को पहचाना और सामाजिक सुधार के लिए आगे वढ़े, आंशिक ही सही। छठी-नवीं शताब्दी के वीच आलवार संतों ने तमिल भाषा में रचना की और प्रायः वे सामान्य वर्ग से आए थे, जिनमें आण्डाल महिला भी थी। दक्षिण के रामानुजाचार्य (१०१६—११३७) ने प्रपत्ति दर्शन की प्रतिष्ठा सामन्यजन के लिए की, शास्त्र को भावात्मक विस्तार दिया और अपनी सीमाओं में, मध्यकाल के उदार वैष्णवाचार्यों में स्वीकारे जाते हैं (रा. गो. भंडारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ. ६२)।

मध्यकालीन सांस्कृतिक विवेचन में प्रायः वेश-भूषा, खान-पान, भवन-निर्माण, मेले-उत्सव, तीज-त्योहार, शिक्षा-कला आदि के विवरण दिए जाते हैं। प्रमाणित किया जाता है कि प्रमुख जातियों में संवाद की जो प्रक्रिया क्रमशः विकसित हुई, उससे सभ्यता-संस्कृति का एक मिल-जुला संसार बनाने का प्रयत्न हुआ, यद्यपि जातीय पार्थक्य बना रहा। दोनों एक दूसरे से प्रभावित हुए, इसमें संदेह नहीं और इसके प्रमाण आचार-व्यवहार में मिलते हैं। 'भक्तिकाव्य की भूमिका' में प्रेमशंकर ने इसकी चर्चा की है। विचारणीय यह है कि समाज-सुधारक के रूप में जो विचारक संकृत मध्यकालीन भारत में सक्रिय थे, उनका सांस्कृतिक अवदान क्या है और उन्होंने समन्वित संस्कृति का कौन-सा रूप गढ़ना चाहा। सुल्तान और बादशाह अपने दरबार के साथ प्रायः उच्च वर्ग तक सीमित थे, यद्यपि अकबर जैसे उदार शासक भी थे, जो इस दिशा में सजग थे कि समन्वय अधूरा है और इसे पूर्णता देने का कार्य भी आसान नहीं, पर इतना तो किया ही जा सकता है कि संवाद का सही माहौल बने, खुला विचार-विनिमय हो, कट्टरताएं टूटें और उदार पंथ विकसित हो। इस दृष्टि से मध्यकालीन संत-भक्त कवियों की भूमिका समाज सुधारक और सांस्कृतिक नेतृत्व की है। उनका आक्रमण व्यर्थ की रूढ़ियों, अन्ध विश्वासों, आडम्बर, पाखंड, कर्मकाण्ड और सबसे अधिक घनघोर जाति-उपजातिवाद पर था। कबीर का प्रश्न है कि जाति-बिरादरी क्या होती है : 'हिन्दू कहत हैं राम हमारा, मुसलमान रहमाना / आपस में दोउ लड़े मरत मरका कोउ नहिं जांना।' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार हैं कि 'कबीर दास ने बाह्याचार मूलक धर्म की जो आलोचना की है, उसकी एक सुदीर्घ परम्परा थी। इसी परम्परा से उन्होंने अपने विचार स्थिर किए थे (कबीर, पृ. १३५) सिद्ध-नाथ-संत-भक्त रचनाशीलता में सामाजिक-सुधार का जो भाव विद्यमान है, वह बताता हैं कि सजग मनीषा अपने समय-समाज से सन्तुष्ट नहीं थी और नया मार्ग तलाश रही थी।

सामाजिक सुधार से संस्कृति के लिए नई दिशाएं खुलीं और सामन्ती समाज को देखते हुए, इसे महत्वपूर्ण कहा जायगा। उदार चिन्तन का प्रथम संघर्ष उस जाति-उपजातिवाद से रहा है जो मध्यकालीन भारत में बहुप्रचलित थी। चतुर्वर्ण जाति-उपजाति और बिरादरियों में विभाजित हो गए थे, जिनकी संख्या बढ़ती जाती थी। पेशे पर आधारित लोग थे, जिन्हें वर्ग-व्यवस्था से बाहर रखा गया। इनमें वे भी हैं जो सरकारी लिखाई का काम करते थे और आगे चलकर शिक्षित समाज में सम्मिलित हुए। कठोर जाति व्यवस्था ने इस्लाम तक को किसी अंश

तक विकृत करने का प्रयास किया और अस्पृश्यता तो भारतीय समाज का सबसे वड़ा कलंक है। शासक भी इसे मानते थे कि जाति - उपजातिवाद सच्ची राष्ट्रीयता के विकास में बड़ी वाधा है। इसके कारण भाव - ऐक्य नहीं हो पाता. दूरियां वनी रहती हैं। पर राज्य-विस्तार में उनके पास व्यवस्था में सुधार के लिए पूरा अवकर न था। पर जव भी अवकाश मिला, तो उदार शासकों ने इस ओर ध्यान दिया। जिस सल्तनत काल को कई वार अनुदार रूप में देखा जाता है. उस समय भी राजकीय स्तर पर जातीय सौमनस्य के प्रयास हो रहे थे। गोलकुंडा के सुल्तानों ने हिन्दू मंत्रियों की नियुक्ति की और वंगाल के मुस्लिम शासक ने रामायण-महाभारत के अनुवाद वंगला में कराए ताकि सवको उसकी जानकारी हो। सल्तनतकाल में विद्या को संरक्षण प्राप्त था. जिसका उल्लेख इतिहासकारों ने किया है। तारीखे फीरोजशाही में भी इसकी चर्चा है. जो फीरोजशाह के राज्यकाल में लिखी गई। दक्षिण में वहमनी सुल्तान में प्रान्तीय भाषाओं को प्रोत्साहन मिला और दक्षिण के विजयनगर राज्य की संस्कृति सक्रियता. विशेष रूप से मन्दिर - निर्माण में देखी जा सकती है, जैसे कृष्णदेव राय का कांचीपुरम में निर्माण। उसे 'आंध्र-भोज' कहकर सम्वोधित किया गया जिसने तेलुगु साहित्य को प्रश्रय दिया (आर. सी. मजूमदार (सं०): द देलही सल्तनत, पृ. ३२०)।

संस्कृति एक सामूहिक, वौद्धिक प्रयत्न है जो विचार, दर्शन, साहित्य कला में विकास पाती है। यह सम्यता का अगला चरण है। मध्यकाल में कई वर्गों का इसमें योगदान है और उदार शासक इनमें एक हैं। वुद्धिजीवी वर्ग ने प्रायः पाण्डित्य, शास्त्रचर्चा में रुचि ली और इससे भाष्य-परम्परा को नया विकास मिला। संतों का संसार मूल्यचिन्ता का है और वे सामन्ती समाज का विलोम जैसा दिखाई देते हैं। एक ओर वैभव - विलास का सामन्ती परिवेश है, दूसरी ओर संतों का आध्यात्मिक संसार है जहां वल आचरण पर है। मदरसा, पाठशाला ही शिक्षा में धर्म का स्थान था. पर संतों का आग्रह जीवनानुभव से प्राप्त ज्ञान पर था। अकवर ने शिक्षा में दर्शन, व्याकरण, न्याय के साथ, व्यावहारिक विषयों का प्रवेश कराया (आइने अकवरी : भाग २. पृ. २३९)। इतिहासकारों का कथन है कि फीरोजशाह तुगलक आदि उदार शासकों ने मध्यकाल में शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान दिया. जिसका विकास मुग़लकाल में हुआ। हौज़ खास का बड़ा मदरसा लगभग सत्तर एकड़ में वना था, जिसमें सभी व्यवस्थ.एं निश्शुल्क थीं। पाठशाला मदरसा के नये स्वरूप से नयी चेतना का विकास हुआ। काशी. नदिया, मथुरा.

प्रयाग, मिथिला, श्रीनगर आदि के विद्या संस्थानों में उच्च शिक्षा का प्रवन्ध था, जहां के अध्यापक समाज में आदरणीय थे। वौद्धिक परिवेश ने मध्यकालीन जागरण में इस दृष्टि से सहायता की कि प्राचीन ग्रंथों की नयी व्याख्याएं प्रस्तुत हुईं और परोक्ष ही सही, पर सांस्कृतिक चेतना के निर्माण में उनकी एक भूमिका है। जिन्हें समाज - सुधारक कहा गया, उनके भी दो वर्ग कहे जा सकते हैं पर उनकी संख्या अधिक थी, जो सामान्य वर्ग से आए थे और पाण्डित्य का दावा नहीं कर सकते थे। पर जो शास्त्र के ज्ञाता थे, वे भी धार्मिक कट्टरता से मुक्ति में सहायक थे, जैसे अप्पय दीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ, मधुसूदन सरस्वती आदि कुछ नाम हैं। भक्ति आन्दोलन सभी वर्गों के सम्मिलित प्रयत्न की उपज हैं जो पूरे मध्यकाल में सक्रिय है और इसे नये स्वाभाविक सांस्कृतिक उन्मेष के रूप में देखना होगा, जहां संकीर्णताएं टूटती हैं, जाति-वंधन शिथिल होते हैं, कर्मकाण्ड की अनिवार्यता नहीं रहती और वल शुद्ध आचरण पर है। कृत्तिवास ओझा को बंगला काव्य का पिता कहा जाता है जिन्होंने रामायण को नया रूप दिया (१४१८)। रामानन्द जैसे आचार्य हैं जो पण्डित होकर भी, सामान्यजन में प्रभावी वनते हैं और जिनके शिष्यों में निम्नवर्ग के लोग भी हैं। डा० रामरतन भटनागर का विचार है कि रामानन्द में चिन्तन की समन्वित भूमि है, जिसमें कई परम्पराएं घुल-मिल गई हैं। विशुद्ध भावभूमि पर स्थिर रहकर और कर्मकाण्ड के तिरस्कार द्वारा ही वह यह समन्वय स्थापित कर सके (मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास, पृ. ७२)। चौदहवीं शती में रामानन्द जैसे विचारक उदार चिन्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह उदार पंथ नानक (१४६९-१५३१) तक फैला हुआ है और इन सवसे मध्यकालीन सर्जनशीलता पुष्ट हुई।

मध्यकालीन समय, समाज और संस्कृती का रूप मिला जुला है, कई प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण। सबको मिलाकर यह वृत्त पूरा होता है जिसे भारत की मध्यकालीन संस्कृति कहा जाता है। इस विषय में विद्वानों के विचारों में मतभेद रहे हैं, पर उसके महत्व को सवने स्वीकृति दी है। सवके सम्मिलित सहयोग से जो सामाजिक संस्कृति मध्काल में निर्मित हुई, उसमें उदार शासकों से लेकर उन सामाजिक सुधारक संतों - भक्तों की भूमिका है, जो अपने परिवेश को उदात्त मानवमूल्यों से सम्बद्ध करके देखना चाहते थे। निर्माण आदि का अपना स्थान है, पर चिन्तन की भूमि पर जो नया उदार परिवेश वना उसने मध्कालीन उर्जा को नयी दिशाओं

की ओर अग्रसर किया जिससे विचार, साहित्य कला का ऐसा संसार रचा गया, जो निरन्तर चर्चा के केन्द्र में रहा है और जिसे भारतीय मनीषा के सर्वोत्तम अध्यायों में गिना जाता है। आरंभिक टकराहट के वाद जव पार्थक्य टूटा और संवाद की प्रक्रिया आरंभ हुई तो दोनों प्रमुख जातियों ने एक-दूसरे को जानने-समझने का प्रयत्न किया, सीखा, प्रभावित हुए। वहुविवाह, पर्दा प्रथा जैसी कुरीतियां भी आईं, पर उनका प्रचलन उच्च वर्ग में अधिक था। हिन्दू सभ्यता ने इस्लाम को प्रभावित किया और सूफी कवियों ने भारतीय कथाओं पर काव्य रचे। हिन्दू प्रथा के समान हुमायूं, अकबर, जहांगीर, शाहजहां के तुलादान हुए। विजयादशमी, दीपावली, वसंत, होली के उत्सव राजकीय स्तर पर स्वीकृत हुए। नौरोज़ मूलतः फारस का उत्सव है—नववर्ष, वसंत का प्रतीक और दीवान-ए-जाम के इस उत्सव का वर्णन तत्कालीन इतिहासकारों ने विस्तार से किया है (प्राणनाथ चौपड़ा : सम एस्पेक्ट्स आफ सोसायटी एंड कल्चर ड्यूरिंग द मुगल एज, पृ. ५)। राजकीय स्तर पर जो प्रयत्न हुए, वे एक वर्ग विशेष तक सीमित थे, जिसे अभिजात समाज कहा गया, पर संत-भक्त साहित्य ने जनता को सम्वोधित किया और सांस्कृतिक संवाद को सार्थकता प्रदान की।

—o—

निर्गुण काव्य : धारा के विपरीत

[redacted]

निर्गुण काव्यधारा के विद्रोही स्वर को विशेष रूप से रेखांकित किया गया है और कई वार उसे सगुण के विरोध में भी देखा जाता है। पीठिका पर विचार करें तो पाँच सौ ई० पूर्व वौद्ध-जैन मत का उदय क्रांतिकारी दर्शन के रूप में हुआ और ईश्वर तथा आत्मा की अवधारणाओं को चुनौती दी गई। प्रचलित आर्य धर्म में वैदिक काल और उपनिषदों का समय भारतीय चिन्तन को दर्शन - विचार की सर्वोत्तम ऊँचाई पर ले जाता है। पर भारतीय मनीषा के दुर्वल होने पर कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद प्रवल हुए जिससे समाज में कई विसंगतियाँ आईं। कर्म - आधारित वर्णव्यवस्था, जन्मना जातिवाद में परिवर्तित हुई और दार्शनिक क्षमता के अवरुद्ध हो जाने पर वाह्याचार को प्रमुखता मिली। एक ऐसे कर्महीन पुरोहित वर्ग का विकास हुआ जिसने श्रद्धा - आधारित, दायित्व - सम्पन्न धर्म को भय की ओर मोड़कर अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति की। आत्मा और ईश्वर मूलतः सर्वोपरि अवधारणाओं में हैं जिनसे मनुष्य को उच्चतम नैतिक धरातल मिलता है। आत्मा अजर - अमर है, फिर भय कैसा ? निर्भय होकर कर्तव्य - पालन करो, चाहे प्राणों की ही वलि क्यों न ही जाय। ईश्वर मनुष्य की सर्वोत्तम परिकल्पना है - अपने मूल्य - समन्वित गुण - समुच्चय में जो कभी साकार है, कभी निराकार। दोनों तत्व अगोचर हैं, इसलिए निहित स्वार्थों ने इनका उपयोग समाज को आतंकित करने के लिए किया। श्रद्धा - विश्वास का स्थान भय - आतंक ने ले लिया। वौद्ध - जैन मत ने इसे चुनौती दी। निर्गुण काव्य धारा ने इसी दिशा में रचनात्मक योगदान दिया।

मध्यकालीन भक्ति काव्यधारा का एक क्रम है, और सिद्ध - नाथ - संत मत उसकी भूमिका में उपस्थित हैं। माना जाता है कि सिद्ध आठवीं - ग्यारहवीं शती में सक्रिय थे और नाथ उसके वाद। भक्तिकाव्य का मुख्य वृत्त चौदहवीं शती से आरंभ करके गुरु नानकदेव (१४६९ - १५२८) तक को इसमें स्वीकार किया जाता है, यद्यपि प्रवृत्तियां लगभग एक सौ वर्ष तक और सक्रिय रहती हैं। वौद्धधर्म के

निगतिकाल में उसके जो विभाजन हुए, उन्हें एक प्रकार से 'प्रतिक्रान्ति' कहा जा सकता है, जहां एक क्रांतिकारी दर्शन व्यर्थ के कर्मकाण्ड की ओर मुड़ गया। विद्वानों ने स्वीकारा हैं कि वज्रयान की तांत्रिक प्रवृत्तियों से सिद्ध सम्प्रदाय का उदय हुआ। पर निर्गुण काव्यधारा की समझ के लिए सिद्ध साहित्य का सामाजिक पक्ष अधिक विचारणीय है, जिसने राहुल सांकृत्यायन जैसे मक्सवादी को भी आकृष्ट किया। सिद्धों पर हठयोग का प्रभाव है, पर उनकी सजग सामाजिक चेतना भी है, जहां वे वाह्याचार, रूढ़ि, अंधविश्वास पर आक्रमण करते हैं। सरहपा ने देह को देवालय कहा, शरीर को तीर्थ माना और शुद्ध आचरण पर वल दिया : एत्थु से सुरसरि जमुना, एत्थु से गंगा सअरु, एत्थु पयाग वणारसि, एत्थु से चंद दिवायरु। सिद्धों को वामसाधना से सम्बद्ध करके देखा जाता है, जाहां शरीर की स्वीकृति है, पर विचारणीय यह कि उन्होंने अपनी दो टूक भाषा में इसे नये अभिप्राय दिये। जिसे संध्याभाषा की प्रतीक भाषा कहा जाता है, उसमे योग शव्दावली के साथ, लोकभाषा का भी उपयोग है।

सिद्ध के क्रम में नाथ सम्प्रदाय है, जिसने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान को प्रेरित किया। गोरखनाथ पर विचार करते हुए द्विवेदीजी इसे 'भारतीय धर्म-साधना के उथल-पुथल का काल कहते हैं। नाथों ने सामान्यजन को विशेष रूप से आकृष्ट किया और उन्होंने एक उदार सम्मिलित भूमि पाने का प्रयत्न किया। यहाँ योग पदावलि का उपयोग है, पर योग मन की साधना है और वल इंद्रिय-निग्रह पर है, जिससे आत्मशुद्धि पूर्णता पर पहुंचती है। यहां जाति-वर्ण कर्मकाण्ड पर तीखे आक्रमण हैं, और एक वैकल्पिक आचार संहिता पाने का उपक्रम भी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक ने स्वीकार किया है कि उदार दृष्टि के कारण 'नाथपंथ के उपदेशों का प्रभाव हिन्दूओं के अतिरिक्त मुसलमानों पर भी प्रारंभकाल में हीं पड़ा। वहुत से मुसलमान, निम्न श्रेणी के ही सही, नाथपंथ में आए'। एक प्रकार से नाथ सम्प्रदाय सिद्धों का नया विकास है। सिद्धों की वाममार्गी योगसाधना के स्थान पर नाथपंथियों ने हठयोग को अपनाया। मुक्ति भोग से नहीं, योग से है, जिसका गंतव्य इंद्रिय निग्रह है जो ब्रह्म साक्षात्कार के लिए अनिवार्य है। गोरखनाथ ने कहा : 'अवधू मन चंगा ओ कठोती ही गंगा।' इस प्रकार तीर्थाटन आदि के स्थान पर आन्तरिक शुचिता का आग्रह किया गया, जिसे आचरण की शुद्धता कहा जाता है।

प्रायः निर्गुण - सगुण अथवा निराकार - साकार को वैचारिक स्तर पर एक-दूसरे के विरोध में रखकर देखा जाता रहा है। पर विचारणीय यह कि दोनों का साध्य एक है, साधन में अन्तर हो सकता है। ब्रह्म के निराकार - साकार दो प्रमुख रूप स्वीकारे गए— एक में वह अगोचर है, दूसरे में अवतरित होता है— लीन्ह मनुज अवतार— इसीलिए तुलसी जैसे सगुणोपासक ने कहा : सगुनहि - निगुनहिं नहिं कछु भेदा। दोहावली का दोहा है : हिय निर्गुन, नयन हिं सगुन, रसना राम सुनाम / मनहुं पुरट - संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम। निर्गुण - सगुण की समन्वित स्थिति के लिए भी गो. देशपांडे ने अपनी पुस्तक 'मराठी का भक्तिसाहित्य' में लिखा है कि यहां दोनों की स्वीकृति है। सगुण प्रस्थान है और निर्गुण समापन। यहाँ संत जिसे प्रायः निर्गुण मार्ग से सम्बद्ध किया गया और भक्त जिसे सगुण से, दोनों में अधिक पार्थक्य नहीं। संत ज्ञानेश्वर (१२७५—१२९६) ने भक्ति के माध्यम से शांति रस पर बल दिया उसे रसराज कहा और संत एकनाथ (१५३३-१५९९) ने भक्ति - ज्ञान - समन्वित पंथ का आग्रह किया। गुरु ग्रंथ साहब में नामदेव (१२७०—१३५०) के ६५ पदों को स्थान मिला।

निर्गुण काव्य की भूमिका में जो सिद्ध-नाथ साहित्य विद्यमान है, उसके सामाजिक - सांस्कृतिक कारक हैं। मध्यकाल में दर्शन - विचार पृष्ठभूमि में चले गए थे, तथा उसका स्थान एक ऐसी कर्मकाण्डी व्यवस्था ने ले लिया था जो ईश्वर का भय दिखाती थी और प्रमाण के रूप में शास्त्र - पंडिताई को प्रस्तुत करती थी। एक प्रकार का ऐसा अभिजात्य पनप रहा था जहां सामान्यजन के लिए कोई गुंजायश न थी। समाज में बाह्याचारों की प्रधानता थी और मूल्य - मर्यादाएँ संकट में थीं। सिद्ध - नाथ - संत - भक्त चिन्तन ने अपने - अपने ढंग से एक सहज मार्ग पाना चाहा, जिसमें शास्त्र का स्थान अनुभव को मिले और कर्मकाण्ड के स्थान पर आन्तरिक शुचिता पर बल दिया जाय। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे सहज-साधना के विकास रूप में देखा है। कबीर के शब्दों में : साधो सहज समाधि भली। निर्गुण काव्य अपने समय की मूल्यहीनता के विरोध में तीखी प्रतिक्रिया का स्वर है जिसके आरंभिक संकेत सिद्ध-नाथ सम्प्रदाय में मिलते हैं। कुछ बिंदुओं को लें। सगुण में एकाग्रता की सुविधा है और सामान्यजन इस माध्यम से देवत्व के समीप हो सकते हैं। सूर के शब्दों में : 'सब विधि अगम बिचारहि तातें, सूर सगुन लीलापद गावें।' पर निर्गुण पंथ इससे भी परिचित है कि ईश्वर आत्मा जैसी परिकल्पना और अगोचर तत्व का भय दिखाकर पुरोहितवाद समाज को व्यर्थ के

कर्मकाण्ड में उलझा देता है। यहां वाह्याचार प्रधान हो जाते हैं : तीर्थाटन, मूर्ति-पूजा, व्रत, ब्राह्मणवाद का वर्चस्व आदि। इसलिए निर्गुणमार्गियों ने एकदेववाद का आग्रह किया और इस दृष्टि से वे सूफियों की उदार विचारधारा के समीप हैं। अद्वैतवाद अथवा एकदेवतावाद से वहुदेववादी पूजन विधि शिथिल होती है। देव से सीधा साक्षात्कार निर्गुण मार्ग का मूल प्रस्थान है और यहां पुरोहित जैसा मध्यस्थ गायव हो जाता है। इसका स्थान गुरु को मिला, जो विवेक-सम्पन्न ज्ञान का प्रतीक है। सच्चा गुरु ज्ञान देता है, भ्रम के आवरण हटाता है और जीव सही मार्ग पर अग्रसर होता है। कवीर ने गुरु को गोविन्द से भी अधिक महत्व दिया और कह कि गुरु ज्ञानी होना चाहिए और शिष्य निष्ठावान, नहीं तो दुर्गति होगी : नां गुरु मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव / दोनों बूड़े धार में, चढ़ि पाथर की नाव। ठाकुर जयदेव सिंह की व्याख्या है कि 'सच्चे गुरु-शिष्य के अभाव में साधना की दृष्टि से दोनों भवसागर में नष्ट हो जाते हैं। निर्गुण मत में एक नयी आचार-संहिता विकसित हुई जहां शास्त्र का स्थान अनुभव को मिला और वाह्याचार के स्थान पर सात्विक विवेक की प्रतिष्ठा हुई। योग सहायक है, जागरण के लिए और यदि विवेक जागृत हो जाय तो भ्रम स्वयं समाप्त हो जाते हैं। यह एक प्रकार का आत्मसाक्षात्कार है, जव परम सत्य की प्राप्ति होती है। सगुण भक्ति का दुरुपयोग करते हुए भारतीय पुरोहित वर्ग ने जिस भाववाद को अपने स्वार्थ का साधन वनाया था, उसके स्थान पर निर्गुण मत ने वौद्धिक विवेक की स्थापना की। कवीर ने इसे अरुणोदय कहा : संतो भाई, आई ग्यांन की आंधी रे / भ्रम की टाटी समे उड़ानी, माया रहे न वांधी रे / ··· आंधी पाछे जौ जल वरसै, तिहिंतेए जन भीना / कहे कवीर मनि मया प्रगासा, उदै भानु जव चीनां।

निर्गुण मत जानता है कि वहुदेव के कारण जाति - विरादरी के संघर्ष होते हैं और भारतीय मध्यकाल से लेकर आधुनिक समय तक इसे देखा जा सकता है। पहले धार्मिक कारण थे, अव राजनीतिक अधिक। इसीलिए निर्गुणियों का आग्रह अगोचर देव पर है जो हमारे अन्तःकरण में वास करता है और जिसे पाने के लिए न किसी कर्मकाण्डी मध्यस्थ की आवश्यकता है, न वाह्याचार की। वह एक है जो सवमें समान रूप से वास करता है। एकदेववाद का आग्रह पुरोहितवाद को भी दुर्वल करता है और जाति - उपजातिवाद को भी अप्रासंगिक मानता है। मध्यकाल की दोनों प्रमुख जातियां— हिन्दु - मुसलमान आरंभिक टकराहट के अनन्तर सामाजिक - सांस्कृतिक संवाद के लिए विवश हैं क्योंकि दोनों को यहीं रहना-खपना

हैं। अकबर जैसे सम्राट ने भी उस अनिवार्यता को स्वीकारते हुए सुलह-कुल अथवा दीन-इलाही की परिकल्पना की, जिसे यदि संतों-भक्तों की स्वीकृति मिल सकती तो उसका कहीं अधिक प्रसार हो सकता था। निर्गुण मत में भक्ति एक सांस्कृतिक सौमनस्य का पंथ भी है, जहाँ जाति-बिरादरी की सीमाएं टूटती हैं। विवेक सम्पन्न भक्ति मार्गी की एक ही बिरादरी होती है-ज्ञान, कर्म की। नामदेव का जातीय सौमनस्य का स्वर है : कहा करउ जाती, कहा करउ पाती / राम को नाम जपउ दिन राती। तथा हिन्दू पूजो देहुरा, मुसलमान मसीत / नामे सोई सेविया, जइ देहुरा न मसीत। पूजा-स्थल साधन हो सकते हैं साध्य नहीं। एक कठिनाई और है। मध्यकाल में इन पर पुरोहित वर्ग का वर्चस्व था और सामान्यजन के लिए इनमें प्रवेश भी कठिन था। ऐसी स्थिति में एक विचित्र धार्मिक असहिष्णुता और कट्टरता पनम रही थी। कबीर ने अपने जुझारु स्वर में इसका प्रतिवाद किया, कहा : ईश्वर-अल्लाह एक हैं, फिर संघर्ष कैसा ? कबीर के एकदेववाद में भारतीय अद्वैतवाद और सूफियों के उदारपंथ की प्रेरणाएं भी हैं और इससे वे सांस्कृतिक सौमनस्य का प्रतिपादन करते हैं। निराकार उपासना को वे उदारता की पृष्ठभूमि में देखते हैं : कहे कबीरा, दास फकीरा, अपनी राह चलि भाई / हिन्दू तुरक का करता एके, ता गति लखी न जाई।

प्राय: निर्गुण काव्य की खंडनात्मक प्रवृत्ति का उल्लेख किया जाता है और उसे शास्त्र, परम्परा आदि के विरोध में रखकर देखा जाता है। दर्शन हो अथवा काव्य निषेध उसी सीमा तक उपयोगी हो सकता है, जाहां वह अपनी असहमति व्यक्त करता हो— एक रचनात्मक प्रतिपक्ष हो। पर हर रचना-संसार अपने ढंग से वैकल्पिक व्यवस्था की खोज करता है— दर्शन में वह विचार है, रचना में समग्र दृष्टि जिससे एक सौन्दर्यलोक निर्मित होता है और राजनीति में उसे हम व्यवस्था कह सकते हैं। माना कि बौद्ध-जैन धर्म ने भी प्रचलित वैदिक धर्म की पतनोन्मुख स्थिति से असंतुष्ट होकर, वैचारिक प्रहार किये, पर वहां करुणा, अहिंसा के बौद्धिक विकल्प भी प्रस्तुत हुए। निर्गुण काव्य ने वैचारिक स्तर पर, उन मुद्दों पर प्रहार किये, जिनसे सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था निगति की ओर अग्रसर थी : कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा, पुरोहितवाद, बहुदेववाद, जातिवाद, बाह्याडम्बर आदि। उनके स्वर में असंतोष से उपजा गहरा आक्रोश है, प्रहारात्मक। पर कबीर जैसे कवि को खंड-खंड देखना उचित नहीं। उसे समग्रता में पाना होगा। ऐसा नहीं कि आधा कबीर विद्रोही है और आधा समर्पित। कुछ उनकी क्रांतिधर्मी सामाजिक

चेतना का वखान करते हैं और कुछ उनकी आध्यात्मिक रहस्यवादिता की चर्चा करते हैं। मेरे विनम्र विचार से निर्गुनियों की ये पृथक दिखाई देते वाली काव्य-दृष्टियां, उनके रचना-संसार के वृत्त को पूरा करती हैं। गंतव्य एक है – ज्ञान-समन्वित भक्ति जहां एक अद्वैती भाव है, मानव का सर्वोत्तम मूल्य-जगत। कवीर का आक्रमण उस व्यवस्था पर है जहां मूल्य विला गए हैं, मर्यादाएं मिट गई हैं, भोगवादी माया का प्राधान्य है, समयउद्रम पर जी रहा है, तरह-तरह की टकराहट है। कविता अपने समय से विक्षुब्ध है, यह निर्विवाद है और सचाई यह कि हर सार्थक रचना अपने परिवेश से टकराती हुई आगे वढ़ती हैं। पर वह यहीं रुक-ठहर नहीं जाती गहरी मूल्य चिन्ता में डूबी हुई, वह नया संधान करती हैं। कवीर का ब्रह्मलोक, अनहद नाद उनकी कवि-अभीप्सा हैं कि लोक ऐसा होना चाहिए, जहाँ सव द्वैत समाप्त हो जाते हैं— अखंड आनन्द की सृष्टि होती है: रस गगन गुफा में अझर झरे, अपना सुमिरन जाप करे / विनु वाजा झनकार उठे जहं, समुझि परे जव ध्यान धरे / विनु चंदा उजियारी दरसे, जहं तहं हंसा नजरि परे / दसवें द्वारे ताड़ी लागी, अलख पुरुष जाको / ध्यान धरे / काल कराल निकट नहिं आवे, काम क्रोध मद लोग जरे / जुगन-जुगन की त्रिखा वुझांनी, करम भरम अध व्याधि टरे / कहे कवीर सुनो भाई साथी, अमर होइ कवहूं न मरे। यह अमरत्व केवल जरा-मरण से मुक्ति अथवा देवत्व पद पा जाना नहीं है। इसका लोक-पक्ष है— विकारमुक्त होकर ऐसे कर्मक्षेत्र में प्रवेश जहां मनुष्य लोकहित में सार्थक होता है। इसीलिए निर्गुणियों ने माया के साथ अहंकार को मानव व्यक्तित्व का शत्रु माना। यह भी माया की प्रवलता है। इससे हम दूसरों से कट जाते हैं, हमारी लोकचेतना दुर्वल होती है, जिसे आचार्य शुक्ल ने लोकधर्म कहा है— वृहत्तर सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्व। लोकमंगल के विंदु पर, निर्गुनियों संतों की, दो विपरीत दिशाओं की धाराएं— सामाजिकता और आध्यात्मिकता, एक दूसरे में समाहित होंकर उच्चतम मूल्य संसार को जन्म देती हैं, जिसे मध्यकाल का वैकल्पिक रचना-स्वर कहना उचित होगा। कवीर की विद्रोही चेतना सामान्य-जन को गहरा आत्मविश्वास देती है कि मूल्य भरे कर्म से सर्वोत्तम धरातल तक पहुंचा जा सकता है और कवि के आध्यात्मिक संकेत उसे चरम शांति देते हैं। समत्व भाव, जिसका प्रस्थान वुद्धि-विवेक-ज्ञान है, अंत में उच्चतम भाव-धरातल पर पहुंचता है।

दिल्ली। ७, दरियागंज

संख्या ५६७ मिति २८-२-३५

प्रिय हजारीप्रसादजी।

कृपा पत्र मिला। धन्यवाद। आपके उत्सव पर आसका तो सूचित करूंगा। इच्छा तो है ही। कृपया लिखियेगा कि और कौन कौन आरहे हैं?

आपका
जैनेन्द्रकुमार

जैनेन्द्र कुमार : हजारी प्रसाद द्विवेदी।

भाई हजारीप्रसाद जी,

[illegible]

जैनेन्द्र कुमार

जैनेन्द्र कुमार : हजारी प्रसाद द्विवेदी।

निर्गुणियों की सही पहचान किंचित विलंव से हुई, क्योंकि वे धारा के विपरीत दिशा में चलने का साहस कर रहे थे। सामंती समय को देखते हुए यह एक प्रकार का दुःसाहस था, पर सत्य उनके आत्मविश्वास का वंधु और सखा है। प्रचलित मान्यताओं का विकृत होना उनके लिए असह्य था और उन्होंने शास्त्र को चुनौती दी। कहा कि पोथियां अधूरी हैं, आंखिन देखी बात सच है। पाण्डित्य वोझ भी है, यदि वह जीवन-यथार्थ से विरहित है। निर्गुणियों ने असमानता, मर्यादाहीनता के साथ पलायनवाद से भी, भारतीय समाज की रक्षा की और एक प्रकार से पुनः मुख्य लोकधारा में लौटने का आग्रह किया। पर यहाँ लोक अपने उच्चतर आशय में प्रयुक्त हुआ है, जहाँ मानव चेतना देहवाद का अतिक्रमण करते हुए, वृहत्तर मूल्य संसार में पहुँचती है, यहां सव भेद समाप्त हो जाते हैं—अमृत रस की वर्षा होती है, परम समभाव। सिद्धों की वाममार्गा योग साधना से आगे वढ़कर, नाथपंथियों ने हठयोग के माध्यम से समाजिक चेतना का आह्वान किया था, निर्गुण काव्यधारा में कवीर, जायसी जैसे कवियों ने उसे पूर्णता पर पहुँचाया। उनका कौशल यह था कि वे सामान्यजन को सहज भाषा में सम्वोधित कर सके। जिसे शुक्लजी ने सधुक्कड़ी भाषा कहा, वास्तव में वह यायावरी वृत्ति से पायी गई लोकप्रचलित तद्भव शब्दराशि है, जो पुस्तकीय आश्रय अथवा आभिजात्य कला से दूर है। यहां शब्द सीधे ही जनजीवन से प्राप्त किए गए हैं, सहज भाव से और उन्हें अनलंकृत अभिव्यक्ति दी गई है। यह सहजता ही उनके काव्य की शक्ति है, जिसका मूल स्रोत लोकजीवन है। इसीलिए सामान्यजन ने उन्हें अपनी चेतना के समीप पाया और उन्हें स्वीकृति दी। यहां आभिजात्य की सीमाएं टूटती हैं और काव्य-सत्य निर्भय ढंग से प्रतिष्ठित होता है। सहजानुभूति इसकी शक्ति है और लोकधर्मिता इसका लक्ष्य। कई वार योग-शब्दावली अथवा उलट-वासियां अर्थ-सम्प्रेषण में कठिनाई उपस्थित करती हैं, पर प्रायः प्रयत्न यह कि कविता का पाठक श्रोता रूप में उपस्थित रहे। इसीलिए कवीर ने वार-वार सम्वोधनों का प्रयोग करते हुए, अपनी सतेज, प्रखर वाणी को वाचिक परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया। अपनी वात समग्रता में कह सकने के लिए उन्होंने एक पूरा प्रतीक संसार जुटाया, जिसका जितना पक्ष सहज है, वह ग्राह्य हो जाता है। वे उद्वेलित भी करते हैं और अभिभूत भी।

निर्गुण काव्यधारा के संदर्भ में एक पक्ष यह भी विचारणीय कि आदि शंकराचार्य की अद्वैत वेदान्ती व्याख्या की प्रतिक्रिया में चतुःसम्प्रदाय : रामानुज, मध्वाचार्य

निम्वार्क, विष्णुस्वामी की टीकाएं हैं जहाँ असहमति का स्वर है। पर रामानन्द (१२९९—१४१८) की उदार दृष्टि ने भक्तिकाव्य को एक नयी दिशा दी और सगुण - निर्गुण दोनों धाराओं को उन्होंने प्रेरणा दी। ऐसी स्थिति में निर्गुण काव्य-धारा एक प्रकार से रचना - स्तर पर मध्यम मार्ग की तलाश भी है और इस दृष्टि से उसका महत्व असंदिग्ध है। वौद्धिक प्रतिक्रियाओं से रचना यात्रा की शुरुआत करके, वे विवेक - आधारित भावभूमि पर पहुंचते हैं और लोक उपादानों का रचनात्मक प्रयोग करते हुए, समाज के वहुमत को सम्वोधित करते हैं। उनकी रचनाएं भारतीय समाज को आज भी उद्वेलित करती हैं। अपने सरल जीवन, प्रखर व्यक्तित्व से उन्होंने समाज में अपनी अलग पहचान वनाई और गहरे आत्मविश्वास का परिचय दिया। निम्न वर्ग में जन्में निर्गुणियां कवियों ने काव्य को नयी सांस्कृतिक अर्ह्वत्ता दी और आज भी वे चर्चा के विषय हैं। कवीर को अपनी भक्ती पर गर्व है: कवीर मेरी जाति को, सव कोई हंसने हारु वलिहारी इस जाति को, जिहि जपियो सिरजन हारु।

—o—

१५ दरियागंज
दिल्ली
१७.७.३६

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। अगर मुझे आना है तो अगस्त के शुरू में ही आने में मुझे सुभीता होगा। अज्ञेय भी यहां हैं। वह साथ आ सकेंगे। पर उन्हें आपका पत्र नहीं मिला है। मुझे आपके यहां अंग्रेजी में कुछ बोलना है — यही न? मैंने [illegible] को लिखा था कि भाषण लिखित नहीं; मौखिक हो। मौखिक मैं पसंद करूंगा। रिपोर्टिंग का प्रबंध कृपया कर रखें। व्यय लिखवायें। उत्तर दीजिए।

आपका
जैनेन्द्र कुमार

मुझे सूचना मिली कि आपने उन्हें भी [illegible] के लिए लिखा है। मुझे भी कुछ बोलना [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कि [illegible] [illegible] जैनेन्द्र

जैनेन्द्र कुमार : हजारी प्रसाद द्विवेदी।



भारतीय साहित्य का मुखपत्र "हंस"

प्रेमचंद.

कन्हैयालाल मुनशी.

दि हंस लिमिटेड,

सरस्वती प्रेस, बनारस कैन्ट।

प्रिय हजारीप्रसाद जी,

हम लोग उस भाई से चलकर ... तारीख को सवेरे शांतिनिकेतन को पहुँच रहे हैं।

आपका—
जैनेन्द्र





श्री हजारीप्रसाद जी द्विवेदी,

शांतिनिकेतन

Shanti NCketan

(Bengal) ~~Calcutta~~

जैनेन्द्र कुमार : हजारी प्रसाद द्विवेदी।

मध्ययुगीन भारत का संस्कृत साहित्य

विश्वनाथ बनर्जी

स्मरणातीत काल से भारतवर्ष के श्रेष्ठ ज्ञान की धारा संस्कृत भाषा और संस्कृति के माध्यम से निरन्तर प्रवाहित रही है। यह धारा ज्ञान की सभी शाखाओं से होती हुई, और नए आयाम जोड़ती हुई वहती रही है। लैसन, वुहलर, किएलहॉर्न, फ्लीट आदि विद्वानजनों के सर्वेक्षण ने भारत में साहित्यिक साम्राज्य की पुष्टि की है— जिसका उल्लेख मैकसमूलर ने अपनी प्रसिद्ध पुनर्जागरण की संज्ञा में किया था। यह प्रतिष्ठित सत्य है कि संस्कृत साहित्य के विकास और वृद्धि की धारा में, या यों कहें कि साहित्यिक क्षेत्र में अमूल्य अवदान के प्रवाह में कभी रुकावट नहीं आई।

हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में इतिहास सदा ही अपर्याप्त रहा है। इसीलिए वृहदाकार और विविधता से पूर्ण संस्कृत साहित्य का कालानुक्रमिक इतिहास आदि काल से वाणभट्ट के समय तक प्राप्त करना बहुत कठिन है। वाणभट्ट और उनके समकालीन अन्य साक्ष्य से हमें उनके समसामयिक अन्य कवियों का परिचय मिलता है और वाणभट्ट के समय से ही साहित्य की सभी शाखाओं का प्रायः प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध है। संस्कृत साहित्य की निरन्तर प्रवाहित धारा की पुष्टि कारी ऐतिहासिक उपादान का कभी अभाव नहीं रहा है और राजशेखर, मम्मठ, श्रीहर्ष, सायन, मल्लिनाथ, नागेश इत्यादि महान साहित्यकारों ने परवर्ती काल में अपने अमूल्य अविनश्वर और विविध साहित्य-सृजन से संस्कृत साहित्य को समृद्ध बनाया। परन्तु यह कदापि नकारा नहीं जा सकता है कि इन महान साहित्यकारों में साहित्य के आदि गुरुओं जैसी स्वच्छन्दता, स्वाभाविक प्रवाह, सरलता और नवीनता का अभाव रहा है। छटवीं शती से संस्कृत लेखकों की रचनाओं में अपनी विद्या और काव्यकुशलता के प्रदर्शन की प्रवृत्ति शब्द-संरचना, शब्दों के व्यवहार और शब्दाडम्बर में परिलक्षित होती है। वाणभट्ट के बाद की रचनाएँ क्रमशः शब्दसार, जटिल शैली और विद्याडम्वरी से वोझिल हो उठी। परिवर्तित साहित्यिक मूल्यों, विचारों रुचियों और अन्य प्रभावशाली कारणों से ही यह परिवर्तन आया। यद्यपि इस

वैचारिक परिवर्तन का आभास मध्ययुगीन साहित्यिकों की सार्विक दृष्टिभंगी और लेखन शैली में ही अधिक मिलता है परन्तु संस्कृत विद्या के सभी क्षेत्र में, विशेषतः अनेक नए क्षेत्र और विषयों को लेकर महत्वपूर्ण साहित्यिक अवदान में उत्साह - उद्दीपना का अभाव नहीं दीखता। अवश्य हमें संस्कृत साहित्य के इस युग में एक पाणिनि या एक पतजंलि, एक कालिदास या एक हरिषेग नहीं मिलते पर किसी भी देश में किसी भी भाषा का साहित्य क्षेमेन्द्र, अभिनवगुप्त, माघ, जयदेव और ऐसे ही कई अन्य साहित्यकारों पर गर्व कर सकता है जिन्होंने अपनी क्षुरधार वुद्धि, प्रकाण्ड विद्वता, तर्क और उपस्थापना की सर्वथा नवीन पद्धति से संस्कृत साहित्य को समृद्ध बनाया।

चतुर्वेद संस्कृत साहित्य के प्राणस्वरूप हैं— और भारतीय सभ्यता - संस्कृति के आधार हैं। अतएव मध्यकालीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन का प्रारम्भ मध्ययुग में वेदपाठ की धारा से ही करना उचित होगा। अपौरुषेय वेदों का पठन - पाठन तीन हजार सालों से अधिक समय से मौखिक परम्परा के रूप में प्रचलित है परन्तु भारतीय इतिहास में, भारतीय जन-मानस और समाज पर इसका प्रभाव कभी भी कम नहीं हुआ। मध्ययुग में भी वेदों की अगणित व्याख्या और टीका लिखी गयीं। टीकाशास्त्र जो कि वेदों के अध्ययन के लिए क्रमशः अत्यावश्यक हो उठा था— मध्ययुग की पहचान वन गए।

ऐसा लगता हैं कि मध्ययुग में वेदाध्ययन का दुर्दिन आ पड़ा था। ब्राह्मण पुरोहित—जिन पर वेदों की परम्परा - संस्कृति के निर्वाह का दायित्व था वे वेदों को केवल अपनी जीविका - निर्वाह का साधन स्वरूप मानने लगे थे। पुरोहितों की यही मानसिकता वेदों की सही और प्रथागत परम्परा को शीघ्र ही सम्पूर्णरूप से नष्ट कर देती। पर महान और विस्तृत टीका साहित्य ने ही शायद उस विनाश को रोका और परम्परा को सँजोया।

सम्भवतः टीका साहित्य का विकास सातवीं शती के स्कन्दस्वामिन के पश्चात ही हुआ। इनकी रचना ही ऋग्वेद की सर्व प्राचीन उपलब्ध टीका है। अन्य एक संक्षिप्ताकार टिप्पणी उपलब्ध है वारहवीं शती के वेंकट माधव की। तेरहवीं शती के प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य दार्शनिक माध्व (आनन्दतीर्थ) ने, शायद ऋग्वेद के प्रथम चालीस शूक्तों की टीका लिखी थी। आनन्दतीर्थ के पहले और वाद में भी कई टीकाकार हुए पर उल्लेखनीय गुरुत्व किसी का भी नहीं है।

चौदहवीं शती के प्रारम्भ में वेदों के महान टीकाकार सायनाचार्य के आविर्भाव से ही वेदों की टीका - टिप्पणी और व्याख्या में ज्वार आया। दाक्षिणात्य के विजय नगर के एक मन्त्री सायन वहुत वड़े विद्वान थे। टीकाओं के अतिरिक्त उन्होंने अनेक कृतियों की रचना की थी। यह वड़े ही आश्चर्य की वात है कि राजकार्य सम्भालकर भी सायन को इतना अवकाश मिलता था कि अनेक वैदिक ग्रन्थों की टीकाओं के उपरान्त उन्होंने इतने ग्रन्थों की रचना की। वैदिक ग्रन्थों की टीकाओं के अतिरिक्त उन्हें 'सुभाषित सुधानिधि' 'प्रायश्चित्त सुधानिधि', 'यज्ञतन्त्र सुधानिधि' 'अलंकार सुधानिधि', धातुवृत्ति' आदि ग्रन्थों का रचयिता माना जाता है। समस्त मन्त्र साहित्य पर उनकी व्याख्या अमूल्य है और मंत्र साहित्य के किसी भी पाठक के लिए अपरिहार्य पथप्रदर्शक है। समग्र कृति वेदार्थ प्रकाश के नाम से परिचित है।

ग्यारहवीं शती के उवट शुक्लयजुः के एक प्रख्यात टीकाकार थे। उन्होंने चौदहवीं शती के यास्क की कृति 'देवराज यज्वन' में अनुपस्थित तत्वों को लेकर निघण्टु पर एक भाष्य, तथा 'निघण्टु निर्वचनम्' की रचना की। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है क्योंकि ऐसा माना जाता है कि इसके लेखक ने निघण्टु की कई पाण्डुलिपियों को सम्मिलित कर दिया है. और इसप्रकार यास्क की रचना का एक प्रामाणिक ग्रन्थ हमें उपलब्ध कराया है। पन्द्रहवीं शती के प्रारम्भ में मुदगल ने सायन के ऋग्भाष्य से व्याकरण की आलोचना को छाँटकर एक संक्षिप्त संस्करण की रचना की। सोलहवीं शती में आनन्द भट्टोपाध्याय ने समग्र 'काण्वसंहिता' की टीका लिखी।

मध्ययुग के प्रारम्भिक काल में वैदिक विद्वानों में एक नई रीति का प्रचलन दीखाता है और यह रीति दीर्घ समय तक चलती भी रही। यह रीति है कर्म-काण्ड की दृष्टि से महत्वपूर्ण कुछ वैदिकमन्त्रों को चुनकर उनपर टीका लिखना। हरदत्त, हलायुध, मुरारिमिश्र, कालनाथ इसी परम्परा के कुछ महत्वपूर्ण विद्वान हैं। इनमें से हलायुध को सर्वोच्च कोटि का विद्वान माना जाता है। वहुसर्जक हलायुध वंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की सभा की शोभा थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी उनमें से सभी पाँच कृतियों के नाम 'सर्वस्व' से समाप्त होते हैं— व्राह्मण, मीमांसा, वैष्णव, शैव और पण्डित सर्वस्व।

---

१. हलायुध, व्राह्मण-सर्वस्व मं डि, एम, भट्टाचार्य पृ. ११

इस युग की सामवेदीय टीकाओं में माध्व विरचित 'भाष्य' का अपना ही निराला स्थान है उन्होंनें सामवेदीय रीति की सही प्रवृत्ति को उजागर किया।

इस युग के वैदिक - साहित्य - चर्चा के विश्लेषण से यह देखा जा सकता है कि सायन के पूर्व किसी भी वेद टीकाकार ने ग्रन्थों की पुंखानुपुंख आलोचन नहीं की। उनलोगों का अवदान सायन की रचना की महानता और विविधता की बराबरी नहीं कर सकता है। फिर भी उनकी रचनाएँ हमें प्राचीन परम्परा के विषय में आवश्यक जानकारी देती हैं। इस युग में जँहा एक ओर वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में टीकाओं, टिप्पणिओं, व्याख्याओं और व्याख्याओं पर आधारित आलोचनाओं का आधिक्य है वहीं दूसरी ओर व्याकरण का अध्ययन, पाणिनि के सिद्धान्तों पर आधारित होते हुए भी, अभिनव ढंग से प्लवित हुआ इससे पूर्व पाणिनि उत्तरकाल में पनपे कातंत्र चन्द्र और जैनेन्द्रवादी सिद्धान्तों को छोड़कर व्याकरण की वाकी सभी परम्परा ग्यारहवीं से चौदहवीं शती के बीच ही पनपी थी। यह सिद्धान्त समूह है।—

ग्यारहवीं शती के भोज रचित 'सरस्वतीकंठाभरण'
ग्यारहवीं शती के अंत में हेमचन्द्र वृत 'हेमव्याकरण'
बारहवीं शती के अंत में अनुभूतिस्वरूप या नरन्द्राचार्यकृत 'सारस्वत व्याकरण'
तेरहवीं शती के मध्य में क्रमदीश्वर रचित 'संक्षिप्तसार' (जौमर)
तेरहवीं शती के ही वोपदेव विरचित 'मुग्धवधिव्याकरण'
चौदहवीं शती के पद्मनाभ रचित 'सुपद्मव्याकरण'

ग्यारहवीं शती के संभवतः एक काश्मीरी विद्वान कैयट ने कात्यायन, पंतजलि और भर्तृहरि के बाद पाणिनि की परम्परा को आगे बढ़ने के लिए अपनी प्रसिद्ध कृति 'प्रदीप' की रचना की। कैयट का विवेचन न केवल भर्तृहरि के बाद उपलब्ध महाभाष्य की सबसे प्राचीन टीका है वरन् महाभाष्य पर यह सबने विद्वतापूर्ण टीका है और पाणिनि के सिद्धान्तों को समझने के लिए कैयट की कृति अत्यन्त सहायक निर्देशिका है। ग्यारहवीं शती के हरदत्त ने जिनका पहले ही हमने वेदमंत्र के व्याख्याता के रूप में उल्लेख किया है— कैयट की कृति पर आधारित 'पद्ममंजरी' में काशिका की व्याख्या की है। सायन ने अपनी कृति 'माधवीय धातु वृत्ति' में हरदत्त की रचना से अनेक उद्धृतियाँ लीं हैं और वे हरदत्त को एक उच्च कोटि का वैयाकरण मानते थे। पाणिनि के अनुयायियों में बारहवीं शती के बंगाल के

बौद्ध मैत्रेयरक्षक का नामोल्लेख करना चाहिए। उन्होंने दो महत्त्वपूर्ण कृतियों की रचना की थी— 'तंत्रप्रदीप' और 'धातुप्रदीप' बारहवीं शती के उत्तरार्ध में बंगाल के ही पुरुषोत्तमदेव की भाषावृत्ति, परिभाषावृत्ति, ज्ञापक समुच्चय उल्लेखनीय है। बौद्ध धर्मकिंति ने अपने सरल व्याकरण ग्रन्थ 'रूपावतार' में अष्टयाध्धायी सूत्रों को विश्यानुसार सजाया हैं। वे ग्यारहवीं शती में हुए और बौद्ध तार्किक न्यायबिंदु की प्रसिद्धि से अलग रहे। सत्रहवीं शती के रामचन्द्र की 'प्रक्रियाकौमुदी' प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण कृति हैं। इस ग्रंथ में 'रुपावतार' ग्रंथ से अधिक सुचारुरूपा से सूत्रों की व्याख्या की गई है।

सत्रहवीं शती के ही भट्टोजीदीक्षित कृत 'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' एक बहुल प्रचलित और प्रसिद्ध ग्रंथ है। कहा जाता है कि वे समंवतः रामचन्द्र के शिष्य थे। भट्टोजी की रचना की प्रसिद्धि इतनी अधिक थी कि किसी विद्वान ने कहा है कि "स्वयं पाणिनि की प्रसिद्धि भी पीछे रह गई है" (२) महाभाष्य और काशिका सहित पाणिनि के सिद्धान्तों पर आधारित ग्रंथ प्रक्रिया ग्रंथों में सर्वोत्तम 'सिद्धान्त कौमुदी' का ऐतिहासिक स्थान है। भट्टजी ने स्वयं अपनी कृति का व्याख्यात्क विवरण प्रस्तुत किया है जों 'प्रौदमनोरमा' के नाम से विख्यात है और यह एक मौलिक रचना मानी जा सकती है। भट्टोजी के ग्रंथ 'कौमुदी' पर कई टीकाएँ एवं टिप्पणियां लिखी गई हैं— शब्द रत्न, वृहच्छब्दरत्न, लघु-शब्द रत्न, शब्द-कोस्तुभ, वैयाकरण-भूषण-सार आदि कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं जिन्होंने पाणिनि के अध्ययन को और दृढ़ बनाया।

पाणिनि के परवर्ती युग में कातंत्रवादी वैयाकरण अपनी रचनाओं को कातंत्र सिद्धान्तों या दुर्गासिंह की वृत्ति पर व्याख्या या टीका लिखने तक ही सीमित रखते थे। ग्यारहवीं शती के वर्धमान का 'कातंत्र विस्तार' इसी प्रकार का सर्व प्राचीन टीका ग्रंथ है। पाणिनि के उपरान्त इस युग में राजा भोज की कृति सर्व वृहत् रचना है। इसमें कुल ६४२१ सूत्र हैं जो कि पाणिनि के सूत्रों से २४२६ अधिक हैं। व्यवहारिक और पारिभाषिक दृष्टि से समृद्ध 'हेमव्याकरण' एक अत्यंत ही उपयोगी रचना है। इसमें पूर्व सूरियों की रचनाओं की छाया दीख पड़ती है।

---

२. Sek. एस. के. वेलवालकर - 'सिस्टमस ऑफ संस्कृत ग्रामर' पृ. ३८।

कहा जाता है कि 'सारस्वत व्याकरण' तत्कालीन प्रयोजन को ध्यान में रख-कर लिखा गया था। उस युग के मुसलमान शासक शासन-कार्य की सुविधा के लिए संस्कृत भाषा की पृष्ठपोषकता करना चाहते थे और उन्हें एक सरल-सीधी संस्कृत व्याकरण की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता को घ्यान में रखते हुए इस व्याकरण की रचना हुई थी। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से होती दिखती है कि सुल्तान गयासुद्दीन खिलजी, सम्राट जहाँगीर और कई अन्य सुल्तान "स्वल्प प्रचेष्टा में अधिक फल पाने के लिए 'सारस्वत व्याकरण' को पढ़ने का प्रोत्साहन देते थे।" मनोरंजक तथ्य यह है कि अंग्रेज शासकों ने भी भारत की भाषा तथा संस्कृति को समझने के लिए पहला आंग्ल-संस्कृत व्याकरण 'सारस्वत व्याकरण' के आधार पर लिखा। समकालीन ग्रंथ 'संक्षिप्त सार' अनुमान किया जाता है कि किसी वृहत व्याकरण ग्रंथ का सार है। यह पाणिनि के व्याकरण का भी सार हो सकता है संक्षिप्त परन्तु अमूल्य कृति मुग्धबोध की रचना पाणिनि के व्याकरण को सुधारने के उद्देश्य से हुई थी इसलिए सूत्रों को संक्षिप्त और अधिक सारवान बनाने की कोशिश दिखाती है। वोपदेव के पारिभाषिक शब्द पाणिनि से भिन्न थे। मल्लिनाथ अपने 'कुमार संभव' व्याख्या ग्रंथ में वोपदेव के रचना से उद्धृति देते हैं जो कि बंगाल प्रान्त में अत्यन्त लोकप्रिय हुई। 'सुपद्म व्याकरण' पाणिनि के रचना पर आधारित है और जिसमें पाणिनि के परिभाषिक शब्दों की ही संजोया गया है। लेखक का उद्देश्य था पाणिनि के अनेक सूत्रों को नए ढंग से लिखना और उनको सुचारु रुप से सजाकर उनकी व्याख्या प्रस्तुत करना।

पन्द्रहवीं शती के अन्त में कुछ धार्मिक गुटों के अनुयायियों में अपने आराध्य देवी-देवताओं के गुण गाकर काव्य-रचना करने के प्रवृत्ति दीख पड़ती है। इस प्रकार लिखे गये व्याकरण को साम्प्रदायिक कहा जा सकता है। इस काल में नियमित रूप से व्याकरण ग्रंथों की रचना हुई। प्रत्यक्ष कारणों से ही हम कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की ही आलोचना करेंगे। नागेश जैसे विद्वान को हमने छोड़ दिया है क्योंकि शायद उनकी रचनाएँ मध्यकालीन व्याकरण के अंतर्गत्त नहीं आती[३]।

भाषा के संक्षिप्त विवेचन के पश्चात अब हम साहित्य के क्षेत्र में चलेंगे। जैसा कि हमने पहले देखा है मध्ययुग में ज्ञानचर्चा अधिकतर अपनी विद्वता और

३. एस. के. वेलवालकर— 'सिस्टमस ऑफ संस्कृत ग्रामर' पृ—७६।

कला - दक्षता को दिखाने मात्र की प्रवृत्ति वन कर रह गई थी। शब्द और विविध विधाओं की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा था। और यही प्रवृत्ति मध्ययुगीन सभी साहित्यक कृतियों में दिखती है। संस्कृत साहित्य का रचनात्मक युग दसवीं शती के संग ही समाप्त हो जाता है। पर इससे संस्कृत साहित्य की समाप्ति नहीं हो जाती। इस युग में साहित्यिक कृतियाँ वहुत उच्च नहीं हैं परन्तु काव्य और गद्य की विभिन्न रचनाएँ आजतक चलती आ रही हैं। इनमें से कई यथार्थ ही सम्मानीय स्तर की हैं। यद्यपि हम ऐसे किसी साहित्यकार का नामोल्लेख नहीं कर सकते जो प्राचीन संस्कृत साहित्यकारों से तुलनीय हों। ऐसा कहा जा सकता है कि इस युग के कवि प्रतिभा नहीं वरन् उपलब्ध सामग्री, अपनी विचारधारा नहीं वरन् सूक्ष्म विवेचन, स्वाभाविक स्वच्छन्द काव्यमयता की सतेजता नहीं वरन् विस्तृत और विविध ज्ञान का प्रदर्शन करना चाहते थे। (४)

संस्कृत साहित्य का क्षेत्र विराट है— महाकाव्य से लेकर गीतिकाव्य तक जिसमें दूतकाव्य, गद्य प्रेमकथाएँ, चम्पू-काव्य, चरितकाव्य, राज परिवार की शौर्य गाथाएँ विशेषतः उन राजपुरुषों की गाथाएँ जो विद्या के पृष्ठ-पोषक थे, विविध नट्य कृतियाँ काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, छंदालंकार ग्रन्थ, शब्दाभिधान आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ जिनकी जन मानस तथा समाज को धनी वनाने में महत्वपूर्ण भूमिक है।

सर्वप्रथम हम महाकाव्यों की आलोचना करेंगें। नवीं शती से ही महाकाव्य नवीनता खोकर समय की कठिन रीतियों में जकड़कर रह गया था। कवि निस्सन्देह ही प्रतिभवान थे पर उनके लिए बुद्धिवृत्ति, शैली की नवीनता, आदि काव्यकल्पना से अधिक महत्व रखते थे। रसों का सार्थक प्रयोग, विचार और प्रयोग में शैल्पिक अभिनवत्व और स्वच्छन्द - स्वाभाविक कमनीय अभिव्यक्ति जो कि कवि की स्वाभाविक काव्य - प्रतिभा और कविमन के सौन्दर्य की देन है — आदि की जगह लेती हैं— परिमार्जित कपोलकल्पना और विद्वतापूर्ण रीती निर्वाह मात्र। इस अवक्षय की स्थिति में सभी वैशिष्ट प्रकट हो उठते हैं वारहवीं शती के प्रथमार्ध में हुए काश्मीर के 'श्रीकंठचरित' में। अत्यधिक आलंकारिक शैली, रूढ़िवद्धविद्या घिसीपिटी शब्द योजना से युक्त २० सर्गों में विभाजित यह ग्रंथ शिव द्वारा निहत्थ त्रिपुरासुर की पौराणिक कथा पर आधारित है। कथा के विस्तार में महाकवि महाकाव्य

---

४. दासगुप्त और दे. क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, १. पृ. ३०४।

की विशेषताओं का यथायथ अनुकरण करते हैं। कहीं भी अभिनवत्व लाने की चेष्टा नहीं है। इस युग के कवियों में यह चेष्टा कम ही दीखती है। बारहवीं शती के उत्तरार्ध में एक अत्यन्त विरल प्रतिभा मठवासी, तार्किक असंख्य ग्रंथों के रचयिता हुए श्रीहर्ष जिनकी सर्वोत्तम कृति 'नैषध चरित' मानी जाती है। पाँच विशिष्ट महाकाव्यों की अन्यतम और अन्तिम मानी जाने वाली यह कृति महाभारत के नलोपख्यान के कुछ अंशों को लेकर २२ सर्गों में रचित हुई है। इस कृति में लेखक ने २० छन्दों का व्यवहार किया है परन्तु कठिन एवं अप्रचलित शब्दों और वाक्यों के प्रति कवि के आग्रह ने उनके छन्दों को स्वच्छन्द और स्वाभाविक नहीं रहने दिया, उन्होंने बड़ी ही चतुरता से विभिन्न अलंकारों का व्यवहार किया है कभी-कभी एक पद में दो या तीन से अधिक अलंकारों का नियोजन हुआ है। फिर भी उन्हें दक्ष आलंकारिक नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वे स्वाभाविक स्वच्छन्द नहीं हैं और कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि अलंकार के व्यावहार के लिए ही अलंकार का नियोजन हुआ है और काव्य-वर्णन अपना कोमल प्रवाह को खो देता है। फलस्वरूप रचना अधिक अनुशीलन की देन हो उठती है। उच्च कोटि की प्रतिभा के अधिकारी न होते हुए भी श्रीहर्ष अत्यन्त मेधावी लेखक थे।

बारहवीं शती के उत्तरार्ध में कविराज विरचित 'पारिजात हरण', तेरहवीं शती में वेंकटनाथ रचित 'यदवाम्युदय', सत्रहवीं शती के राज चूड़ामणि दीक्षित कृत 'रुक्मिणी कल्याण' और चक्र कवि विरचित 'जानकी परिणय' मध्ययुग के कुछ विशिष्ट काव्य ग्रंथ हैं।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में यह एक अत्यन्त ही रोचक बात है कि जैनों ने निरतंर ब्राह्मणीय पौराणिक गाथाओं को अपनाया और अपने धार्मिक विचारों को व्यक्त करने के लिए उनका उपयोग किया। जैन कवियों द्वारा रचित महाकाव्यों में पौराणिक परम्परा की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। लगभग आठवीं शती से अपने धार्मिक विचार प्रस्तुत करने हेतु जैनों ने महाकाव्यों की रचना शुरू की। ग्यारहवीं शती के प्रख्यात चिकित्सक लोलिम्बराज विरचित 'हरि विलास' इसी परम्परा की एक अनन्य कृति है। अनुपम शैली में लिखी यह रचना कंस बध तक कृष्ण की अपूर्व लीलाओं का वर्णन करती है। तेरहवीं शती के बास्तुपाल का 'नारायणाभ्युदय' और नलधारिन देवप्रभ सूरि का 'पाण्डव चरित' और अमरचंद सूरि का 'बाल-भारत' इस प्रकार के कुछ ग्रंथ हैं।

मध्ययुग में महाकाव्य विद्या को लेकर संस्कृत कवियों ने कई परीक्षण किये, जैसे एक संग समानांतर रूप से एकाधिक कथाओं का कथन। इस रोचक पद्धति ने कवियों में नया उत्साह जगाया और भारत के प्रायः सभी प्रान्तों से हमें इस प्रकार की अनेक रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। दो कथाओं के एक साथ कहने की इस कला को द्वि संधान काव्य नाम से अभिहित किया जाता है अर्थात् ऐसी कविता जिसमें द्वि स्तरीय उन्मोचन रहता है। ग्यारहवीं शती के अन्तिम चरण में बंगाल के संध्याकरनन्दीन की कृति 'रामपाल चरित' इस शैली का सर्वप्राचीन उदाहरण है। इस ग्रंथ में रामकथा के साथ ही वंगाल के राजा रामपाल का भी जीवन चरित चित्रित हुआ है। कविराज या माधव भट्ट की 'राघव पाण्डवीय' वारहवीं शती में एक साथ रामायण तथा महाभारत की कथा पर आधारित है। कथा कहने की यह पद्धति वहुत ही जन प्रिय हो उठी थी और कई कृतियाँ ऐसी हुई जो एक साथ कई कथाओं को लेकर एक साथ रचित हुईं, सत्रहवीं शती के उत्तरार्ध में जैन साधु मेघविजय गणि ने अपने ग्रंथ 'सप्त संधान' काव्य में एक साथ सात कथाएँ ली हैं।

मध्ययुग में सभी कवियों द्वारा आश्रयदाता संरक्षक राजाओं की शौर्य गाथाओं की रचना करना एक नियमित परम्परा वन गई थी। देश का ऐसा कोई भी कोना न होगा जहाँ ऐसे काव्य न लिखे गए हों, इस प्रकार के इतिवृतीय काव्य चरित काव्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। १००५ ईसवीं में परिमल या पद्मगुप्त का 'नवसहसांक चरित' इस शैली का सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रंथ है। वारहवीं शती में विहल्ण द्वारा रचित प्रशंसा काव्य 'विक्रमांक देव-चरित' प्रसिद्ध हुआ।

समग्र संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में चाहे वह प्राचीन साहित्य हो या नवीन, हमें कहीं ऐसा वर्णन नहीं मिलता जिसे भावी पीढ़ी सही रूप से इतिहास मान सके। पन्द्रहवीं शती की कहल्ण की कृति 'रजतरंगिनी' इतिहास के वहुत निकट आती है। सन्देहातीत रूप से संस्कृत का यह एक महान ऐतिहासिक काव्य है और देश की ऐतिहासिक परम्परा का लिपिवद्ध अन्यतम प्राचीन ग्रंथ भी है। यह कृति काश्मीर के राजाओं की गाथा है पर साथ ही यह काश्मीर की सामाजिक ओर सांस्कृतिक भाँकी भी प्रस्तुत करती है और इसमें देश की साहित्यिक परम्परा का भी उल्लेख मिलता है। उस युग के भारतीय इतिहास का हमारे सामने प्रस्तुतकारी यह ग्रंथ सूचना का एक अमूल्य खदान है।

मध्यकाल में कालिदास का महान काव्य 'मेघदूत' के अनुकरण में गीतिकाव्य की शैली में बहुत से दूत या संदेश काव्य लिखे गए थे। बारहवीं शती में बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन की सभा को सुशोभित करने वाले धोयी रचित 'पवन दूत' प्रसिद्ध है। श्री-चैतन्य के शिष्य रूप गोस्वामी, 'हंसदूत' और 'उद्धव संदेश' नामक दो काव्य के रचयिता माने जाते हैं। विष्णुदास का 'मनो-दूत' कृष्ण सार्वभौम का 'पदांकदूत', जम्बू का 'चंदू-दूत' इस प्रकार के कुछ उल्लेखनीय ग्रंथ हैं।

केवल कृष्ण कथा की परम्परा में ही नहीं समग्र कालिदासोत्तर युग में ही जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' सर्वाधिक जनप्रिय और सर्वोत्तम गीतिकाव्य माना जाता है। जिस शैली और विधा में जयदेव ने अपना विषय प्रस्तु किया है वह अनुपम एवं अभिनव है। यद्यपि यह काव्य के ही नाम से विख्यात है पर काव्य के प्रचलित विभाजन के अतिरिक्त काव्य की और कोई भी विशेषता इनमें नहीं पाई जाती है। इसकी असाधारण विशेषताओं के कारण विद्वानों ने इसकी रचना शैली की व्याख्या की है। लैसन ने इसे गीतिकाव्य के नाम से अभिहित किया हैं, वॉन स्क्रोडर ने इसे गीति-नाट्यधर्मीय काव्य के नाम से चिह्नित किया जो एक परिमार्जित जननाट्य या यात्रा का ही रूप है। सर विलियम जोन्स इसे ग्रामीण (Pastoral) नाट्य मानते थे, सिल्वा लेवी ने इसे ऑपेरा माना और पिशेल ने इसे अति नाटक माना, ऐसा माना जाता है कि जयदेव बारहवी शती में बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के सभाकवि थे।

दसवी शती से संस्कृत में संकलित संग्रहों का प्रचलन हुआ। लगभग बारहवीं शती में हुए एक अनाम कवि का 'कवीन्द्रवचन समुच्चय' इस कोटि का सर्वप्रथम ग्रंथ है। ग्यारहवीं शती में वल्लभ देव की 'सुभाषितावली', श्रीधर दास की 'साधूक्ति-कर्णात्मृत', जहल्ण की 'सुभाषित मुक्तावली; शार्ङ्गधर की 'शार्ङ्गधर पद्धति, संस्कृत के कुछ प्रसिद्ध संकलित ग्रंथ हैं।

संकलन ग्रन्थों से जुड़ी हुई और संस्कृत गीति कविताओं की परम्पराओं में आनेवाली कुछ कविताएँ ऐसी हैं जो शतक के नाम से परिचित हैं जिसमें किसी निद्दष्ट विषय पर आधारित पद्य शतक एक साथ एक काव्यकृति में परस्पर गूँथे हुए होते हैं। विचारणीय है कि सर्वदा शतक में सौ पद्य नहीं होते। कालिदासोत्तर युग में भर्तृहरि एवं अमरू दो ऐसे कवि हुए जो शतक काव्य ग्रंथ के रचयिता के रूप में अधिक ख्यात हैं। मध्ययुग में ऐसे काव्यों का प्राचुर्य है पर

अल्प संख्यक मात्र ही उल्लेखनीय हैं। लक्ष्मण सेन के सभासद गोवर्धनाचार्य की 'आर्या - सप्तशती' इस कोटि की अन्यतम कृति है। काश्मीरी पंडित विह्लण के नाम से परिचित संस्कृत साहित्य का अन्यतम प्रसिद्ध प्रेम काव्य "चौर-पंचापिका" गोपन प्रणय पर लिखे पचास पदों का संकलन है। यह ग्रंथ संस्कृत प्रणय गीति काव्य का अन्यतम सुन्दर उदाहरण है। गीति कविताओं का एक और अनुपम उदाहरण है सत्रहवीं शती के अलंकार शास्त्री जगन्नाथ का गीतिकाव्य 'भामिनी-विलास' काव्य जो आंशिक शृंगारात्मक और आंशिक उपदेशात्मक है।

गीतिकाव्यधर्मी कृतियों के समानान्तर रूप से धार्मिक और भक्तिपरक कुछ ऐसी रचनाएँ लिखी गई जिनमें शृंगारात्मक भावनाओं का आधिक्य है। भक्तिपरक काव्यों की इस परम्परा में असंख्य स्तोत्र रूपी गीति कविताएँ लिखी गईं जो हिन्दू, जैन और बौद्ध मत को उद्भासित करती हैं। यह स्तोत्र महान कवि - कल्पना का अनुपम उदाहरण हैं। बौद्ध स्तोत्र इस युग के हिन्दू स्तोत्र के अनुरूप ही हैं सिर्फ आराध्यदेव ही वदल जाते हैं और उसके साथ ही प्रणाली में भी थोड़ा बहुत-परिवर्तन होता है। प्राचीन युग के जैन स्तोत्र प्राकृत में होते थे परन्तु वाद में शायद बौद्ध कवियों की रीति अपनाते हुए जैन कवियों ने अपने स्तोत्रों के लिए संस्कृत को ही अपनाया और साथ ही हिन्दू स्तोत्रों की शैली शब्द - योजना और प्रणाली का भी अनुकरण किया। स्तोत्रों के संबंध में हम यह कह सकते हैं कि इनका साहित्यिक मूल्य अधिक नहीं है। वारहवीं से सत्रहवीं शती तक कुलशेखर का मुकुन्दमाल, कल्हण का अर्धनारीश्वर स्तोत्र, नारायण भट्ट का नारायणीय, नील-कंठ दीक्षित का आनन्दस्तव, और सत्रहवीं शती के प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री जगन्नाथ की गंगा लहरी आदि पाँच लहरियाँ जनप्रिय थीं।

मध्यकालीन नाटक अपनी दैन्यदशा के परिचायक हैं। जनजीवन के सही चित्रण से उनका नाता टूट चुका था और समाज क्रमशः कष्टकल्पित कल्पना से दुर्बोध्य वनता जा रहा था। यद्यपि नाटकों का मान वहुत ही निम्नमुखी था फिर भी इस युग में नाटकों की भरमार रही है—उनकी संख्या लगभग ६०० से अधिक रही है और निकृष्ट होते हुए भी वे मंचस्थ करने योग्य हैं। दसवीं शती के पहले चरण में लिखे गए मुरारी का 'अनघंराघव' इस प्रकार का पहला नाटक है। सात अंकों में विभाजित इस नाटक में राम - रावण के युद्ध की कथा का चित्रण हुआ है। मुरारी अपनी रचना में सहीं अर्थों में नाट्यकार कम और सुसंस्कृत कवि अधिक

दीख पड़ते हैं। राजशेखर दो महाकाव्याश्रित नाटकों के रचयिता माने जाते हैं— दस अंकों में विभक्त 'बाल रामायण' और केवल दो अंकों में प्राप्त 'बाल भारत.। प्रथम कृति को हम शायद ही नाटक की संज्ञा दे सकें और दूसरे में अंशमात्र कोई भी विशेषता नहीं हैं। उनकी चार अंकों में विभाजित दो और लघु रचनाएँ उपलब्ध हैं—प्राकृत में लिखे सट्टक 'कर्पूरमंजरी' और 'विधशालभंजिका' नामक एक नाटिका। परम्परागत प्रणय पूर्ण समाजिक जीवन ही दोनों कृतियों का विषय है। जयदेव कृत 'प्रसन्नराघव' इस युग की विशिष्ट कृति है। इसके लेखक संभवतः तेरहवीं शती में हुए और वे 'गीत गोविन्द' के रचयिता जयदेव से भिन्न थे। इनकी शैली और चित्रण दोनों में निपुणता का अभाव है। इस युग में रामकथा, महाभारत की कथा और कृष्ण कथा को लेकर वहुत से नाटक लिखे गए इनमें से कुछ तो सदा के लिए खो गए और सभी में उल्लेखनीय नैपुण्य का अभाव है।

गद्य के क्षेत्र में इस युग में बाणभट्ट का वहुत अनुकरण हुआ और उनकी 'कादम्वरी' प्रेमोपाख्यानों की आदर्श वन गईं। दसवीं शती के अन्तिम चरण में श्वेतांवर जैन धनपाल ने बाणभट्ट के अतिशयोक्ति पूर्ण ढंग का अनुकरण करते हुए 'तिलकमंजरी' की रचना की परन्तु इसमें निपुण काव्य गुणों का अभाव है। रचना कौशल की दक्षता रहते हुए भी यह कृति साधारण ही रह गई। वाण के अनुकरण में लिखी गईं दूसरी कृति शोढ्ढल कृत प्रेमोपाख्यान 'उदय सुन्दरी कथा' हैं। वामन-भट्ट की 'वेगभूपाल चरित' बाण के 'हर्षचरित' के अनुकरण में लिखा अन्य एक अजैन गद्य काव्य है जिसका साहित्यिक मूल्य विशेष न होने पर भी संगीतमयी भाषा के लिए उल्लेखनीय है। छंद काव्य से गद्य काव्य की ओर जाने की प्रवृत्ति इस युग में ही परिलक्षित होती है और इस परिवर्तन की स्थिती में ही गद्य कथा चम्पू काव्य का जन्म होता है। सर्व प्राचीन उपलब्ध चम्पू काव्य दसवीं शती के त्रिविक्रम भट्ट कृत 'नलचम्पू' है। अपने युग की प्रथानुसार यह कृति भी कृत्रिम शैली और अन्य कष्टसाध्य लेखन विशेषताओं से भरी है। दसवीं शती के उत्तरार्ध में लिखी गई दिगम्बर जैन सोमप्रभ सूरि की कृति 'यशस्तिलक चम्पू' इस कोटि की अन्यतम कृति है। वाण के अनुकरण में अत्यंत आलंकारिक शैली में लिखी यह कृति पुनर्जन्म के विषय पर केन्द्रित है। आकर्षक प्रकृति का वर्णन, भावोच्छ्वास का सुन्दर नियंत्रण, शक्तिशाली भाषा और स्वच्छन्द प्रवाह विशिष्ट भोज का 'रामायण चम्पू' इस श्रेणी का अन्यतम ग्रंथ है। चम्पू काव्य में इस ग्रंथ की सर्वाधिक टीका, टिप्पणी एवं व्याख्या उपलब्ध है। गद्य प्रेम कथाओं और चम्पू काव्यों के

अतिरिक्त इस युग का संस्कृत साहित्य विभिन्न लोक कथाओं रूप कथाओं उपकथाओं रूपकों और अन्यान्य प्रचलित जन कथाओं से समृद्ध है। सर्व प्राचीन पशु कथाओं का संकलन है 'पंचतंत्र'। पंचतंत्र' और उसके विभिन्न पाठांतर ने संस्कृत गद्य में लोक कथाओं की एक प्रथा का प्रचलन किया और मध्ययुगीन कई उल्लेखनीय कथाओं को अनुप्रेरित किया। नौवीं और दसवीं शती के बीच 'पंचतंत्र' का एक अन्य संस्करण एक जैन साधु द्वारा संकलित हुआ जिसमें (२०) कहानियाँ और जोड़ी गईं। ११९९ ई. में अन्य एक जैन साधु ने पंचाख्यानक' नाम से और एक संस्करण का संकलन किया जिसमें पुरानी कहानियों के संग कुछ नई कहानियाँ भी जोड़ दी गईं। पंचतंत्र का शायद सबसे अधिक लोकप्रिय और विख्यात संस्करण हुआ बंगाल के नारायण द्वारा संकलित 'हितोपदेश'। यह कृति १३७३ ई के पहले की मानी जाती हैं। वस्तुतः यह ग्रंथ अभिनव शैली के आधार पर लिखी एक स्वाधीन रचना है। इस संकलन का चरित्र कुछ व्यवहारिक ज्ञान की पुस्तक का है और कुछ मुहावरों के संकलन का लोक प्रिय जन कथाओं का अन्य एक प्राचीन प्रसिद्ध ग्रंथ 'वेताल पंचविंशती' है। राजा विक्रम और वैताल की पच्चीस कहानियों के इस संग्रह की मूल प्रति उपलब्ध नहीं है पर विभिन्न संस्करणों में पन्द्रहवीं शती के प्रथमार्ध में हुए शिवदास कृत 'संस्करण' में कहानियों को संभवतः अपने मूल रूप में प्रस्तुत किया गया है। बारहवीं शती में रचित 'शुकसप्तती'— तोते की ७० कहानियों का संग्रह है जो इस युग का अन्यतम लोकप्रिय और मनोरंजक ग्रंथ रहा है। इस संग्रह की कहानियाँ रोचक जीवंत और हास्योदीपक हैं परन्तु सर्वदा यह उपदेशात्मक नहीं है। एक ज्ञानी तोता कुल ७० कहानियाँ कहता है। एक विश्वासघाती नारी को अपने पति की अनुपस्थिति में अपने प्रेमी के पास जाने से रोकने के लिए तोता हर रात एक कहानी सुनाता है। चौदहवीं शती के प्रसिद्ध वैष्णव कवि मिथिला के विद्यापति अपने 'पुरुष परीक्षा' में सरल परन्तु भव्य शैली में ४१ कहानियाँ कहते हैं। उपदेशात्मक ये कहानियाँ ऐतिहासिक घटनाओं या राजाओं को लेकर रचित हैं। जैन लोग कहानी कहने के प्रेमी थे और जैन कहानियों के संग्रहों की संख्या बहुत अधिक है परन्तु यह कहानियाँ अपने धर्मीय विश्वास का सन्देश मात्र देती हैं। सोलहवीं शती के अंत में लिखा बल्लाल का 'भोजप्रबंध' एक महत्त्वपूर्ण कहानी संग्रह है जिसमें जैन तत्व नहीं है। ग्यारहवीं शती के बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न काश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्र अपनी 'बृहत्कथा मंजरी' के लिए कृतज्ञता के संग स्मरण किये जाएँगे। उनकी 'बृहत्कथा मंजरी' और सोमदेव

रचित 'कथासरित सागर' ने जो कि समसामायिक हैं— हमारे लिए गुणाढ्य का खोया हुआ महा कथा संग्रह 'वृहतकथा' की कहानियों को संजो कर रखा यद्यपि कहानियाँ अपने मूल रूप में नहीं हैं। बुद्ध स्वामी की 'वृहत कथा-श्लोक मंजरी' इस श्रेणी की उल्लेखनीय रचना है। 'वृहत्कथा मंजरी' के अतिरिक्त भी क्षेमेन्द्र साहित्यिक क्षेत्र में अपनी विविधता एवं महत्ता की देन के लिए श्रद्धेय हैं। उन्होंने काव्यात्मक सार संग्रह उपदेशात्मक काव्य शास्त्र, छन्द शास्त्र विषयक प्रवंध लिखें। उनकी 'अवदान-कल्पलता' और जातक कथाएँ हमारी श्रद्धा का उद्रेक करती हैं। मध्ययुग में कई काव्यशास्त्रवेत्ता हुए जिन्होंने काव्य शास्त्र के क्षेत्र में अवदान दिया है। ९०० ई. के लगभग लिखी गईं राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' के पश्चात् ही दसवीं शती में कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवित' की रचना की। दसवीं शती के अन्तिम चौथाई में रचित धनंजय का 'दशरूपक' सही अर्थों में भरत के नाट्यशास्त्र में उल्लेखित्त नाट्य-शास्त्र के अंशों का पुनः लेखन है। भोज जैसे प्रसिद्ध पण्डित और उनकी कृति 'शृंगार प्रकाश', 'व्यक्तिविवेक' रूयात महिम भट्ट, मम्मट और उनकी रचना 'काव्य प्रकाश', रूय्यक वाणभट्ट, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, जगन्नाथ, कवि कर्णपूर आदि कुछ महान काव्यशास्त्री रहे हैं जिन्होंने उस युग के अलंकार शास्त्र को वहुत ही समृद्ध बनाया। भरत के महान व्याख्याकार अभिनवगुप्त और उल्लेखनीय दार्शनिक आनन्दवर्धन— जो अनेक भिन्न प्रकार की रचनाओं के लेखक थे दसवीं और ग्यारहवीं शती के दो विख्यात व्यक्तित्त थे, जिनका अवश्य ही विशेष रूप से उल्लेख करना चाहिए।

मध्ययुग तंत्र, स्मृति और दर्शन की अनेक कृतियों के रचनाकाल के रूप में प्रसिद्ध है। इस काल में विशेष रूप से तंत्र और स्मृति की रचनाओं का आधिक्य है। सभी प्रकार के तांत्रिक ग्रंथ — वैष्णव, शैव, शाक्त और वौद्ध — इस युग में लिखे गए जिनमें कुलाणव तंत्र, कुब्जिकांतम, कालचक्र तंत्र, योगिनी तंत्र इत्यादि उल्लेखनीय हैं। हिन्दू आचार संहिता के ग्रंथ मिताक्षर, दायभाग, मनुस्मृति पर लिखा 'कुल्लूक टीका,' रघुनन्दन विरचित २४ तत्व और अनेक उल्लेखनीय स्मृति ग्रंथ सार संग्रह और नियम-पुस्तिका इस काल में लिखे गए। एक महापुराण-सौर पुराण और एक उपपुराण— शिवपुराण इस युग की रचनाएँ हैं। देवी भागवत और कल्की पुराण भी इसी काल में लिखे गए। इसी समय लिखे गए कुछ दार्शनिक ग्रंथ हैं— रामानुज का श्रीभाष्य (१२ वीं शती) विज्ञान भिक्षु की सांख्य योग पर लिखी व्याख्या (सत्रहवीं शती) गंगेश की 'तत्व चिन्तामणि', जगदीश की 'शब्द

श्रीराम: ।

चिरगाँव (झाँसी)
२७-७-३६

मान्यवर महोदय,

गुरुदेव के आश्रम में बैठ कर आपने जान कर पत्र लिखा होगा, जो आपने मुझे भेजा है, उसमें आप की जैसी सात्त्विक स्थिति होनी चाहिए, उसे सोच कर मुझे स्वयं संकोच हो रहा है, परन्तु गुण-ग्राहकता में कहीं कमी की जा सकती है और आप के आशीर्वाद का अधिकारी तो मैं हूँ ही। उसी नाते से मैं उसे शिरोधार्य करता हूँ। कृपया मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिए और सब दीजिए।

हिन्दी समाज के अनुग्रह के लिए हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इस अवसर पर सियारामशरण ने दो तीन पुस्तकें प्रकाशित की हैं। क्या उनकी एक एक प्रति भी भिजवाई जायें?

विनीत
मैथिलीशरण

सियारामशरण का प्रणाम।

मैथिलीशरण गुप्त : हिन्दी समाज, शान्तिनिकेतन।

SATYABADI PRESS
CUTTACK.

कटक
शनिवार ८/४/३६

प्रिय शुक्ल जी,

आपका २५ मार्च का पत्र प्रयाग होता हुआ मुझे यहां आज मिला है। मैं २५ मार्च को प्रयाग से चला था और अब शीघ्र वापस पहुंचता हूं। मैं आज यहां से जा रहा हूं। एक या दो दिन कलकत्ता में भी लगेगा। मुझे खेद है कि मैं आपको लिखी तिथि पर शान्तिनिकेतन नहीं जा सकूंगा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन २० तारीख से इन्दौर में है। वहां जाने से पहले मुझे प्रयाग में कई बहुत आवश्यक कामों पर ध्यान लगाना है।

मुझे स्वयं शान्तिनिकेतन आने की लालसा है। किन्तु इस समय लाचार हूं।

शुभैषी
पुरुषोत्तमदास टंडन

पुरुषोत्तम दास टंडन : शुकल जी।

शक्ति प्रकाशिका', विश्वनाथ का 'भाषापरिच्छेद' अपोदेव की 'मीमांसा न्याय प्रकाश', माध्व की 'जैमिनीय न्याय माला' आदि संगीत शास्त्र की सौ से अधिक कृतियाँ भी हमें उपलब्ध हैं, जिसमें लगभग तेरहवीं शती के शार्ङ्गदेव का 'संगीतरत्नाकर' वहुत ही विख्यात हुआ। 'अमरकोश' के अनुकरण में असंख्य शब्दकोश रचित हुए और उनके अधिकांश ही मध्ययुग में लिखे गए थे। भोज का ग्रंथ 'राजमृगांक, भास्कराचार्य का ग्रंथ 'सिद्धान्त शिरोमणि', पण्डित श्रीनिवास की 'गणित चूड़ामणि' और गणित के विभिन्न पहलुओं पर लिखी श्रीधर की 'त्रिशती' इस युग की कृतियाँ हैं। नगर निवेशन, मूर्तिकला और प्रतिमा विज्ञान आदि कला और स्थापत्य विज्ञान के विभिन्न विषयों की चर्चा हुई। भोज की कृति 'युक्ति कल्पतरु' आदि कुछ ग्रंथ इस वात के साक्षी हैं। मध्ययुग में वस्तुतः ज्ञान की किसी भी शाखा को उपेक्षित नहीं रखा गया। हस्तलिखित पोथियाँ और छपी पुस्तकें मध्ययुग के सृजनात्मक साहित्यिक प्रवृत्तियों की साक्षी हैं।

इस युग में हुए मुसलमान अवदान के उल्लेख के विना मध्ययुगीन संस्कृत साहित्य का इतिहास अधूरा रह जाता है। (५) कला और साहित्य दोनों ही मुस्लिम शासकों विशेषतः मुगलों और उनके कुछ उच्च अधिकारियों के संरक्षण में पनपा जसा कि उनके जनप्रिय नाम से ही पता चलता है। अकबरीया कालिदास सोलहवीं शती के एक कवि साहित्य के महान प्रेमी अकवर के ऋणी थे। अकवर की तरह जहाँगीर और शाहजहाँ संस्कृत साहित्य के कवि और विद्वानों क संरक्षक थे। अक्वर के दरवार के उच्चपदाधिकारी नवाव अब्दुर्रहीम खान खानाँ संस्कृत साहित्य के जाने माने कवि थे। उनकी दोहावली 'नगर शोभा', 'मदनाष्टक', 'खेटकौतुकम' आदि कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। हम यहाँ उनके अध्यात्मिकता के उदाहरण स्वरूप एक पद का उल्लेख करेंगे जिसमें उनकी भक्ति रस का उच्छवास परवर्ती युग के किसी भी वैष्णव कवि में शायद न मिलें। कवि कहते हैं (६)—

अहल्या पाषाणः प्रकृतिपशुरासीत् कपिचमू
गुहोऽभूच् चाण्डाल स्त्रितयमपि नीतम् निजपदम्।

---

५. जे. वी. चौधरी— मुस्लिम पार्टोनेज टू संस्कृत लर्निंग।

६. वलाइ लाल रॉय— 'खेट कौतुकम', भूमिका (वांग्ला एकाडेमि पत्रिका में छपी, राजशाही, वाङ्लादेश, १३६३.)

अहं चित्रेनाश्मा पशुरपि तवार्चादिकरणे
क्रियामिश्रश्चाण्डालो रघुवर न मामुद्ध रसि किम् ॥

अहल्या पत्थर थी, हनुमान वाहिनी स्वभाव से पशु थी, गुह चण्डाल था (फिर भी) तुमने इन्हें चरणों में शरण दिया। मैं स्वभाव से पत्थर हूँ, एक पशु जो तुम्हारी भक्ति करता है—कर्मों से चण्डाल—फिर तुम हे महान रघु (राम) क्यों मेरे उद्धार के लिए नाह आते ?

दारा शिकोह की साहित्यिक अभिरुचि और दार्शनिकता की बात सभी जानते हैं। १७०८ में लिखी उनकी कृति 'समुद्र संगम' मुगल शासकों की संस्कृत में लिखने की दक्षता का प्रमाण स्वरूप है। गोलकुण्डा के कुतुवशाही वंश के सभासद संत अकवर शाह कृत शृंगार शास्त्री 'शृंगार मंजरी' इस युग की अन्यतम कृति है। शायेस्ता खान की तरह एक सेना नायक ने भी अपने प्रभु के गुणगान में 'रस कल्प द्रुम' नामक एक संस्कृत कविता लिखी। मुसलमानी कवि और साहित्यकार ही नहीं हमें मुस्लिम शासकों के संरक्षण में पनपे असंख्य हिन्दू पण्डितों की रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। 'रस गंगाधारा' के विख्यात लेखक पण्डित राज जगन्नाथ हिन्दू विद्वनों में अग्रणी हैं जिन्होंने मुगलों के संरक्षण में साहित्य की सेवा की। जगन्नाथ शाहजहाँ के समकालीन थे। उनका 'आसफ विलास' नूरजहाँ के भाई आसफ खान की प्रशंसा मे रचित ग्रंथ है। 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' यह उक्ति पण्डित जगन्नाथ की है जिन्होंने दारा शिकोह की मृत्यु के बाद दिल्ली छोड़ी थी। वे दारा शिकोह की विद्वत्ता के गुण से मुग्ध थे। आज के युग में जब हम भावनात्मक एकता या राष्ट्रीय एकता की बात करते हैं तो मध्यकालीन भारत में —संस्कृत साहित्य के केन्द्र में हिन्दू कवि - सहित्यिक - विद्वान और मुस्लिम शासक संरक्षक और कवि साहित्यिकों के नीच हुआ आदान-प्रदान हमारे लिए गुरुत्वपूर्ण अध्यन का क्षेत्र प्रस्तुत करता है।

—o—

मध्यकालीनीकरण और स्त्री

सेवा सिंह

इस वात का मुझे अहसास है कि ऐतिहासिक अवधारणा के तहत अव चर्चा रुचिकर नहीं मानी जाती। बीत गईं वातों के लिए यह दुराव धीरे-धीरे खीझ का रूप ले रहा है। फूहड़ मुद्रा में कहा जाने लगा है कि गढ़े मुर्दे उखड़ने की आखिर जरूरत क्या है? इसीलिए शायद फूकूयामा की पुस्तक "द एण्ड ऑफ-हिस्ट्री" वड़े मनोयोग से पढ़ी जा रही है। अकादमिक हलकों में भी इतिहास के अध्ययन पृष्ठभूमि में धकेले जा रहे हैं। अन्य समाज-विज्ञानी ज्ञानानुशासनों के लिये भी इतिहास बोध बेमानी किया जा चुका है। पर अव. इस सच्चाई से ज्यादा देर और आँख मूंदे रखना वहुत भारी पड़ सकता है क्योंकि भारत जैसे परम्परति समाजों का "इतिहास के अन्त" में राहत पाने का भ्रम उनके पिछड़ेपन से छुटकारा पाने के मार्ग में वहुत वड़ी वाधा है। जन सरोकारों की प्रतिवद्धता में स्पष्ट दिखाई दे सकता है कि यहाँ व्यक्ति और समाज की जीवन-दृष्टि गहरे अतीत में अन्तर्भुक्त है।

देखने की वात है कि पश्चिमी समाज अपने "रेनेसाँ" के प्रयत्नों को निरन्तर गहराते जाने के फलस्वरूप उत्तरोत्तर अतीत के गह्वर से वाहर आ रहे हैं, जवकि भारत के ऐसे प्रयत्नों की विद्युत कौंध समय पाकर विलुप्त होती रही है। विघटनपरक वस्तुस्थिति की इस दीर्घकालीनता ने, भारतीय समाज की अन्तश्चेतना में, कुंठित मनोवृत्ति का रूप ग्रहण कर लिया है, और इस कुंठा का केन्द्रीय मुद्दा स्त्री के प्रति उस जीवन-दृष्टि से सम्वद्ध है जो ढेरों पौराणिक ग्रंथों की मिथकीय उड़ानों के साथ लोक चेतना में आत्मसात की गयी है।

इस संदर्भ में जन समुदाय की अन्तश्चेतना पर श्री मद्भभगवद गीता का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। इस ग्रंथ में स्त्री, को पापयोनि घोषित किया गया है। कहा गया कि भगवान के शरण होने से स्त्री, शूद्र और नीच पापयोनि वालों का भी कल्याण हो जाता है (९.३२)। गीता का रचनाकाल ईसा से दो सौ वर्ष पहले या वाद कहीं निश्चित किया जा सकता है। आगे जाकर ईसा की छठी शताब्दी

से ऐसे पुराण ग्रंथों की रचना का एक लम्बा सिलसिला है जिनमें स्थान-स्थान पर गीता के इस दृष्टिकोण की एक प्रकार से विस्तारपूर्वक व्याख्याएं ही की गई हैं।

उल्लेखनीय है कि गीता और पुराण-ग्रंथ, धार्मिक पाठ-पारायण और कर्मकाण्डीय क्रिया-कलापों के माध्यम से लोक चेतना को दीर्घ काल से आच्छादित किए हैं। पुराणों में भागवत सबसे अधिक पूजनीय और लोकप्रिय है। इसमें उर्वशी के मुख से कहलवाया गया है कि "स्त्रियों की किसी के साथ मित्रता नहीं हुआ करती। स्त्रियों का हृदय और भेड़ियों का हृदय बिलकुल एक जैसा होता है। "स्त्रियाँ निर्दय होती हैं। क्रूरता तो उनमें स्वाभाविक ही रहती है। तनिक सी बात में चिढ़ जाती हैं और अपने सुख के लिए बड़े-बड़े साहस के काम कर बैठती हैं, थोड़े से स्वार्थ के लिए विश्वास दिलाकर अपने पति और भाई तक को मार डालती हैं।" इनके हृदय में सौहार्द तो है ही नहीं। भोले-भाले लोगों को झूठ-मूठ का विश्वास दिलाकर फाँस लेती हैं और नए-नए पुरुष की चाह से कुलटा और व्यभिचारिणी बन जाती हैं (II ६६. १४. ३६—३८) एक अन्य स्थल पर बताया गया है कि "स्त्रियाँ अपनी लालसाओं की कठपुतली होती हैं। सच पूछो तो किसी से प्यार नहीं करती। स्वार्थवश वे अपने पति, पुत्र और भाई तक को मार डालतीं हैं या मरवा डालती हैं (१. ७६१. १८.४२)। अनेक स्थलों पर बार-बार याद दिलाये रखा गया है कि स्त्री और शूद्र एक ही कोटि के पापयोनि जीव हैं (१८०. ७. ४६) महाभारत के अनुशासन पर्व में उल्लेख है कि स्त्रियाँ वास्तव में दुर्दमनीय हैं (३८. ९६) स्त्रियों में राक्षसों, शम्बर, नमुचि तथा अन्य लोगों की धूर्तता पायी जाती है (३८. २४-२५, ३९. ६-७)। पुरुषों को आकृष्ट करना स्त्रियों का स्वभाव सा है अतः विज्ञ लोग नवयुवतियों से सावधानी से बात करते हैं (४८. ३७-३८)। अनृत, साहस (विवेक शून्य कार्य), माया, मूर्खत्व, अति लोभ, अशौच, निर्दयता, ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष हैं (२०.१४. १९.६-७, ३८.१२ तथा २९)। सामाजिक विधि-विधान सूत्रबद्ध करते हुए धर्मशास्त्र और स्मृति ग्रंथों ने स्त्री-सम्बंधी दृष्टिकोण अस्पष्ट नहीं रहने दिया। बताया गया है कि पत्नी, बिना पति के तथा उसकी आज्ञा से स्वतन्त्र रूप से कोई धार्मिक कृत्य सम्पादित नहीं कर सकती थी (मनु ५/१५५, विष्णुधर्मसूत्र २५/२५)। शंखलिखित के मत से पत्नी को चाहिए कि वह अपने नपुंसक, कोषवृद्धि-ग्रस्त, पतित, अंग के अधूरे, रोगी पति को न छोड़े, क्योंकि पति ही पत्नी का देवता है। इस प्रकार पति की आज्ञा से ही पत्नी, व्रत, उपवास, नियम, देव पूजा आदि कर सकती है (स्मृति चन्द्रिका व्यवहार पृ.

२५७ से उद्धृत)। बृहस्पति के अनुसार स्त्री को अपने पति एवं गुरूजनों के पहले सोकर उठ जाना चाहिए, उनके खा लेने के बाद भोजन अथवा व्यंजन ग्रहण करना चाहिए तथा उनसे नीचे आसन पर बैठना चाहिए (उपर्युक्त)। विष्णु धर्मसूत्र में अनेक स्थलों पर इस बात का उल्लेख किया गया है कि विदेश गए हुए पति की पत्नी को अपना चेहरा पीला और दुखी बना लेना चाहिए, उसे पति परायण रहना चाहिए, उसे पूरा भोजन नहीं करना चाहिए अपने शरीर को सुखा लेना चाहिए (२५.९.१०)। मनु भारत के बहुत बड़े समाज शास्त्री और विधि-नियामक रहे हैं। इनका समय ई. सन् की शुरुआत के आसपास आँका गया है। इनके स्मृति ग्रंथ पर नवीं-दसवीं शताब्दी तक टीकाएँ लिखीं जाती रही हैं। उल्लेखनीय बात है कि शंकराचार्य ने अपने दार्शनिक प्रतिपादन में वैदिक देवी ग्रंथों के साथ-साथ मनु स्मृति को ही आधिकारिक स्रोत माना है। मनु ने स्त्रियों को कामी, चंचल, प्रेमहीन, पतिद्रोही परपुरुषप्रेमी, कहकर स्त्रियों को संयमित रखने के लिए रस्सी या बाँस की पतली छड़ी से पीटने का अधिकार भी पति को दे दिया है (९.१४-१५)। पुराण काल में उत्तरोतर स्त्रियां उपनयन, वेदाध्ययन तथा वैदिक मंत्रों के साथ संस्कार सम्पादन आदि से वंचित होती गयी हैं। उनकी दशा शूद्र के बराबर घोषित कर दी जाती रही। इस बात को हमारे विधि ग्रंथों में दर्ज किया गया है। मनु (५.१३९) का उल्लेख है कि सभी द्विजों को पवित्र होने के लिए तीन बार आचमन करना आवश्यक है किन्तु नारी एवं शूद्र को केवल एक बार। द्विजातियाँ, वैदिकमंत्रों के साथ स्नान करती थीं किन्तु स्त्रियाँ एवं शूद्र बिना मंत्रों के, अर्थात् मौन रूप से। शूद्र एवं स्त्रियाँ श्राद्ध, आम श्राद्ध (बिना पक्के भोजन के साथ) करती थीं (विष्णु स्मृति चन्द्रिका १. पृ. १८१ से उद्धृत)। स्त्रियों एवं शूद्रों की हत्या पर समान दंड दिया जाता था (बोधायन धर्म, २.१.११-१२)। नारायण के "त्रिस्थली सेतु" नामक ग्रंथ में बृहन्नरदीय पुराण की एक उक्ति आयी है, जिससे पता चलता है कि स्त्रियां तथा जिनका उपनयन संस्कार न हुआ हो, शूद्र विष्णु एवं शिव की मूर्ति स्थापन नहीं कर सकते थे। पाणिनी के "प्रत्यं-भिवादे शूद्रे" सूत्र पर कत्यायन का वार्तिक और उस पर पतंजली का भाष्य (८.२.८३) इस बात की सूचना देता है कि पाणिनी के बाद स्त्री की स्थिति गिरते-गिरते लगभग शूद्र तक आ गई थी। इसी संदर्भ में भागवतकार (३३.३२) ने घोषित किया था कि पूर्व जन्मों के पापों के फलस्वरूप ही जीव स्त्री रूप में जन्म ग्रहण करता है। ब्राह्मण ग्रंथों में प्रतिपादित स्त्री का वर्णन भी स्मृतियों से भिन्न

नहीं हैं। यद्यपि अधिकांश ब्राह्मण ग्रंथों का रचनाकाल ८वीं सदी ईसा पूर्व आँका गया है पर मध्यकालीन मनस्चेतना के अनुरूप इन ग्रंथों में ढेरों प्रक्षेपण जुड़ते रहे हैं। स्मृतियों का पूर्ण वर्चस्व मध्यकाल के बौद्धिक परिवेश पर छाया हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण (७.१३) के शुनः शेष आख्यान में, नारद ने हरिश्चन्द्र से पुत्र का महत्व दिखाते हुए कहा था, पत्नी एक साथी है, पुत्री एक विपत्ति है, पुत्र स्वर्ग का प्रकाश है। पुत्रियों को शीत, ग्रीष्म की विभीषिका में डाल देना भी उनसे मुक्ति पाने की एक विधि थी जो तत्कालीन समाज में प्रचलित थी। सोम यज्ञ में ऐसे धार्मिक कर्मकाण्ड हैं, जिनके अनुसार पुत्र के उठा लिए जाने का प्रावधान है, जब कि पुत्री को पीछे ही छोड़ दिया जाता है। मैत्रायणी संहिता में स्त्रियों के लिए सभा सम्मेलनों में जाना वर्जित है। स्त्री जुए और मद्य के समान है और मानव समाज के महादोषों में से एक हैं (४.६.४) शतपथ ब्राह्मण में (१४.१.१.३१) उल्लेख है कि स्त्री, शूद्र कुत्ते एवं कौवे में असत्य, पाप एवं अहंकार विराजमान रहता है। उपर्युक्त उदाहरणों में ध्यान देने की बात यह है कि स्त्री और शूद्र का सामाजिक अधः पतन एक साथ एक ही कोटि में प्रस्तावित किया गया है। इस बात पर विचार किया जाना चाहिए कि स्त्री और शूद्र दोनों सेवि वर्ग के प्राणी हैं। यदि शूद्र के लिये उपरि तीनों वर्गों की सेवा निर्धारित की गयी है तो स्त्री का एक मात्र कर्तव्य पति की सेवा बताया गया है। मृत्यु पर उसे या तो पति के साथ ही जलना होता था या मौत से भी अधिक दारूण दुःखों की यातनाएं विधवा के रूप में उसके लिए तय थीं। मनु नें बताया है कि पति के मर जाने पर स्त्री, यदि वह चाहे तो केवल पुष्प, फल और कन्द-मूल खाकर अपने शरीर को गला दे, किन्तु उसे किसी अन्य व्यक्ति का नाम भी नहीं लेना चाहिए। मृत्यु-पर्यन्त उसे संयम रखना चाहिए, व्रत रखने चाहिएं, सतीत्व की रक्षा करनी चाहिए और पतिव्रता के सदा-चरण और गुणों की प्राप्ति की आकांक्षा करनी चाहिए। पति की मृत्यु के उपरांत यदि साधवी नारी अविवाह के नियम अनुसार चले अर्थात सतीत्व की रक्षा में लगी रहे तो वह पुत्र-विहीन रहने पर भी स्वर्गारोहण करती है (३.५६-५७)।

वृद्धहारीत (११.२०५-२१०) ने विधवा स्त्री की आमरण दिनचर्या दी है— उसे बाल संवारना छोड़ देना चाहिए, पान खाना, गन्ध, पुष्प, आभूषण एवं रंगीन परिधान का प्रयोग छोड़ देना चाहिए। पीतल काँसे के बर्तन में भोजन करना चाहिए। दो बार भोजन करना चाहिए, अंजन लगाना आदि त्याग देना चाहिए। श्वेत वस्त्र

धारण करने चाहिए। उसे इन्द्रियों और क्रोध को दवाए रखना चाहिए। प्रमोद एवं निन्दा में प्रवृत नहीं होना चाहिए। सदा हरि की पूजा करनी चाहिए, रात्रि में पृथ्वी की कुशचटाई पर शयन करना चाहिए।

महाभारत के आदि पर्व (१६०.१२) में उल्लेख है कि जिस प्रकार पृथ्वी पर पड़े हुए मांस के टुकड़े पर पक्षीगण टूट पड़ते हैं उसी प्रकार पति हीन स्त्री पर पुरुष टूट पड़ते हैं। स्कन्द पुराण में विधवाधर्म पर विस्तार से चर्चा की गई है जिसका अधिकांश मदन पारिजात (४.५५.७५) निर्णय सिन्धु, धर्मसिन्धु एवं अन्य निवन्धों में उद्धृत है— अमंगलों में विधवा सवसे अमंगल है, विधवा-दर्शन से सिद्धि प्राप्त नहीं होती, विधवा की आशीर्वादोक्ति विज्ञ जन ग्रहण नहीं करते मानो वह सर्प विष हो।

स्कन्द पुराण के काशी खण्ड (अध्याय ४) में कहा गया है कि विधवा के कवीर कन्ध (सिर के केशों को सवाँर कर वांधने) से पति वन्धन में पड़ता है, अतः विधवा को अपना सिर मुंडित रखना चाहिए। उसे दिन में केवल एक वार खाना चाहिए, या उसे मास भर उपवास करना चाहिए या चन्द्रायण का व्रत रखना चाहिए। जो स्त्री पर्यंक पर शयन करती है वह अपने पति को नरक में डालती है। विधवा को अपना शरीर सुगंध लेप से स्वच्छ नहीं करना चाहिए, और न उसे सुगंधित पदार्थों का सेवन करना चाहिए; उसे प्रतिदिन तिल, जल एवं कुश से अपने पति, पति के पिता एवं पति के पितामह के नाम एवं गोत्र से तर्पण करना चाहिए। उसे मरते समय भी वैल गाड़ी में नहीं वैठना चाहिए, उसे कंचुकी नहीं पहननी चाहिए, तथा वैशाख, कार्तिक और माध मास में विशेष व्रत रखने चाहिए।

इस वस्तुस्थिति पर विचार करते हुए ध्यान से देखा गया है कि शूद्र और स्त्री पर आरोपित उपर्युक्त अशक्तताएँ मध्यकाल के सामन्तीय प्रसार के तहत जन जातीय आत्मसाती करण का परिणाम हैं। इस प्रक्रिया में जन जातियां अपने पहले के उत्पादन साधनों से वंचित होकर उस समाज की आश्रित वन गईं। यह वात खास तौर से भारतीय इतिहास के पूर्ववर्ती काल पर लागू होती हैं, जव व्राह्मणों को अनुदान देकर काफी सारी ऐसी जमीन में खेती शुरू की गयी जो पहले आदिवासी जन जातियों का निवास क्षेत्र तथा जीविका का साधन थीं। व्राह्मण संस्कृति का प्रभाव सामाजिक स्तरीकरण और जन जातियों के सामंतावादी आंतरिक ढाँचे के विखराव की प्रक्रिय को तीव्र करता है। वह इक्के दुक्के व्यक्तियों या

घरानों को उच्चतर सामाजिक स्थिरता प्रदान कर सकता है. लेकिन वदले में उन्हें उनकी जनजाति के मुख्य समुदाय से विच्छिन्न कर देता है और इस प्रकार प्रायः वह समुदाय कठोर सामाजिक-आर्थिक शोषण का शिकार हो जाता है। यह एक ऐतिहासिक वास्तविकता है. कि जव जनजाति का जाति आधारित समाज में आत्मसातीकरण होता है तव कुछ परिवारों को उनके अपने दर्जे के अनुसार ब्राह्मणों, राजपूतों या क्षत्रियों की उच्चतर जाति में प्रवेश मिल जाता है. लेकिन अधिकांश लोग, जो राजनीतिक, प्रशासनिक अथवा आर्थिक विशेष अधिकारों में भागीदार नहीं होते अंततः शूद्रों के दर्जे में आ जाते हैं।

इतिहासकारों ने अनेक तथ्यों का सर्वेक्षण करते हुए वताया है कि ब्राह्मणों के, आदिवासी क्षेत्रों में वसाए जाने से जनजातीय लोग कृषकों में तब्दील हो गए। जिन्हें शूद्रों का दर्जा दिया गया। देखने की वात है कि परम्परा से तो खेतीवारी और पशुपालन वैश्यवर्ग के खास पेशे थे। पूर्व मध्यकाल की सांमती अर्थव्यवस्था में कृषि और कारीगरी के क्षेत्रों में शारीरिक काम करने वाले समुदायों का दर्जा नीचे गिर गया। कारण यह था कि उस समय अर्थव्यवस्था में ऐसी कई मध्यवर्ती श्रेणिया खड़ी हो गई थीं जिनकी आय का साधन प्राथमिक उत्पादकों द्वारा जोती जाने वाली जमीन थी। शासक वर्ग में शारीरिक श्रम के प्रति तिरस्कार का भाव विकसित हुआ और उसने श्रम करने वालों का खूव शोषण किया। यह स्थिति स्मृति-साहित्य में प्रतिबिंवित हुई, जहाँ हम देखते हैं कि वैश्य-वर्ण के कृषक समुदाय की सामाजिक हालत बहुत गिर गई और वे शूद्रों के दर्जे में प्रवेश कर गए। इस अवस्था में जिन जनजातियों ने ब्राह्मण समाज व्यवस्था में प्रवेश किया और जिनकी जीविका का आधार श्रम था उन्हें निम्न कोटि के वैश्यों के वजाय शूद्र माना गय। इसका उद्देश्य उनकी तावेदारी की स्थिति पर अर्थात् इस दायित्व पर जोर देना था कि उन का काम कृषि और कारीगरी के क्षेत्रों में शारीरिक श्रम द्वारा उच्चतर वर्णों की सेवा करना है। इस प्रकार गुप्त और गुप्तोत्तर काल में किसान समुदायों को शूद्र वर्ण में शामिल किया जाने लगा। इस परिवर्तन के मूल में शारीरिक श्रम के प्रति तिरस्कार का भाव और किसानों की हालत में आई गिरावट थी। राम शरण शर्मा (१) ने अपने एक अध्ययन में इसी वात पर विस्तार

१. शूद्रज़ इन एंशियण्ट इंडिया, पृ. २३।

से चर्चा की है। उनका मानना है कि उतर में चातुर्वर्ण्य का विकास उतर वैदिक जनजातियों के टूटने-जुड़ने से हुआ था। और इन जनजातियों में ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा पराजित शूद्रों को साफ पहचाना जा सकता था. जवकि वाकी लोग वैश्य कहलाए, जिनमें कारीगर, चरवाहे, किसान आदि अर्थात स्वतंत्र उत्पादक शामिल थे। किन्तु उत्तरी भारत में गुप्त काल तक आते-आते शूद्र लोग किसान और शिल्पी वन चुके थे। ब्राह्मणों के पिछड़े और आदिवासी क्षेत्रों में भूमि अनुदान से लोहे के फलक वाले हल से खेती की पद्धति का प्रसार हुआ और आदिवासी जन जातियाँ खेती वारी के काम में लगीं शूद्र जातियों में तबदील होने लगीं। प्रो. शर्मा (२) ने इसे सामंतवादी संघठन का परिणाम माना है। उन्होंने वताया है कि ५०० ई. पू. के आसपास पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा विहार में शिल्पों और खेतीःवारी के लिए लोहे के अधिक उपयोग के साथ ही ज्यादा अधिशेष सुलभ होने लगा और इससे वर्ग-समाज तथा उसके उपकरण, अर्थात् राज्य के उदय के लिए भौतिक आधार तैयार हो गया। उनके अनुसार छठी सदी ई. पू. से लेकर ५वीं सदी ई. तक की मध्य भारत, की सामाजिक संरचना को इस अर्थ में वैश्य-शूद्र आधारित समाज कहा जा सकता है, जिसमें वैश्य किसान थे और शूद्र कारीगर, गुलाम तथा मजदूरी पर काम करने वाले श्रमिक। लगभग ५वीं सदी ई. से सामाजिक वर्गों के स्वरूप और संवंधों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने लगते हैं।

जनजातियों के आत्मसातीकरण के तीखे दौर में ही अस्पृश्यता का आरोपन जोर पकड़ने लगता है। विवेकानन्द झा ने इतिहास के विभिन्न चरणों में "अस्पृश्य" संस्था का सर्वेक्षण करते हुए वताया है कि ऋग्वेद में ऐसे किसी जनसमूह की जानकारी नहीं मिलती जिसके साथ सम्पर्क का तनिक भी निषेध किया गया हो। उत्तर वैदिक पाठ भी अस्पृश्यता के चलन का कोई संकेत नहीं देते। यद्यपि उनमें चंडालों तथा पुल्कसों के जनजातीया समूहों का उल्लेख काफी तिरस्कार और घृणा के भाव के साथ किया गया है। (३) २०० ई. तक के काल को परिधि में लेने वाले दूसरे चरण में चंडाल तथा पुल्कस जैसे कुछ और समूह अस्पृश्य बन जाते हैं। लेकिन पराकाष्ठा ६०० से १२०० ई. तक जाने वाले चौथे चरण में होती है। जव

---

२. इंडियन फ्यूडलिज्म, पृ. ४०।
३. इतिहास, अंक—१, जनवरी १२, पृ. २४।

पेशों के आधार पर बने कई समूहों को जैसे चर्मकारों और रजकों को, अस्पृश्य-वर्ग में डाल दिया गया और कई नए प्रजातिगत समूहों को भी अछूतों की सूची में शामिल कर लिया गया।

इस बात का संकेत दिया जा चुका है कि मानव जाति का आदिचरण मातृसत्तात्मक रहा होगा। नृतत्व शास्त्रियों के शोध इस दिशा में बड़े ठोस प्रमाण प्रस्तुत करते आ रहे हैं। वर्ग-रहित समाज में जहाँ उत्पादक और उपभोक्ता इकाई एक ही होगी उसमें पिता-पुत्र या पुरुष-स्त्री के बीच पराधीनता के सम्बंध के विकसित होने की संभावना नहीं होती। स्त्रियों की पराधीनता निजी सम्पति के विकास तथा आर्थिक वर्गों के उदय से घनिष्ट रूप में जुड़ी हुई है और इन दोनों बातों के कारण ही स्त्रियों को "सार्वजनिक उत्पादन कार्य" से हटकर घेरेलू सेवा में प्रवृत होना पड़ा। अलतेकर (४) ने बताया है कि वैदिक काल में स्त्रियों की स्वतंत्रता और बेहतर स्थिति का कारण यह था कि वे खेतीबारी कपड़ा, तीर-धनुष आदि बनाने के उत्पादन कार्यों में हिस्सा लेती थीं; जब आर्य विजेताओं को विजित आबादी या शूद्रों का सस्ता और बेगार श्रम मिलने लगा और स्त्रियाँ "समाज की उत्पादक सदस्याएं" नहीं रह गई तब इनके स्थान में गिरावट आने लगी।

सुवीरा जायसवाल (५) ने बताया है कि उन तमाम साक्ष्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती जो अब तक एकत्र किए गए है,' जिनसे उत्तर भारत में मातृवंशानुगत संतति प्रणाली और चचेरे, ममेरे और फुफेरे भाई-बहनों के बीच विवाह के चलन मिलते हैं। आम तौर पर ऐसे सम्बंधियों के बीच विवाह के चलन का मूल मातृवंशानुगत संतति प्रणाली को माना गया हैं। महाभारत (६) के एक श्लोक से ज्ञात होता है कि भद्रदेश में संपति का उतराधिकार भाईयों को नहीं, बल्कि बहनों को मिलता था, तथा महाभारत, बृहत्संहिता और राजतरंगिणी में मद्रों, बाह्लीकों तथा गंधारों में प्रचलित स्वच्छंदतापूर्ण लैंगिक संबंधों एवं स्त्री-राज्य का उल्लेख हुआ है।

---

४. पोजीशान ऑफ वीमेन इन संशियण्ट इंडिया, पृ. ३४२।
५. इतिहास, अंक २, जनवरी ९३ पृ. ४०।
६. ३ / १८६ / ९२।

आधुनिक मनोविज्ञानिकों का विचार है कि मातृवंशानुगतता, विकास की समान्य नहीं, वल्कि विशिष्ट अवस्था है। यहाँ देखने की वात है कि भौतिक आधार के बदलने से पितृ-सत्तात्मक व्यवस्थाओं में रूपांतरण हुआ है और उसके अनुरूप एक सांस्कृतिक अधिरचना का विकास होने लगा। प्राचीन और मध्यकालीन समाजों में धर्म और धर्म के कर्मकाण्डों का केन्द्रीय महत्व रहा है। लेकिन जिन क्षेत्रों में दमनपूर्ण ढंग से अधीनस्थ उत्पादन तंत्र के अंतर्गत पितृसत्तात्मकता को आरोपित किया गया, उन, जनजातियों के धार्मिक आचार-विचार सतही तौर पर पितृतंत्रीय दिखाई देते हुए भी अंतर्वस्तु में जनजातीय वने रहे। इस द्विधात्मकता के कारण एक तो उन आचार-विचारों को गोपनीय बनाए रखा जाना जरूरी रहा होगा। दूसरे जनजातियों के प्रजनन मूलक स्त्री केंद्रित कर्मकाण्ड बदले हुए मानदण्डों के अनुसार अनैतिक समझे समझाए जाते रहे और जनजातियों के प्रति वितृष्णामूलक दृष्टिकोण के तहत उनके सहज धार्मिक आचारों को अति विकृत रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। यह वही काल है जिसका पीछे उल्लेख किया गया है जब जनजातियों कों शूद्र की कोटि में रखा जाने लगा, अस्पृश्यता की सस्था वलवती हो गई। सामन्तीय स्थितियों में जन जातीय लोग घोर शोषण के शिकार वनाए जाने लगे।

इसके साथ ही सामन्तीय प्रसार में ब्राह्मणीय वर्चस्व ने जनजातीय सामुदायिक मातृसत्तात्मकता जीवन पद्धति को छिन्न-भिन्न करने में सांस्कृतिक तरीकों का बड़े कारगर ढंग से इस्तेमाल किया है। भक्तिपरक पुराण ग्रंथों, महाकाव्यों, के नित्य नए रूपांतरणों में वर्णधर्म के लिए दैवी मान्यता को जन समुदाय की अन्तश्चेयता में गहरे तक आत्मसात किया गया। इसी नीति के अनुरूप जनजातियों के सांस्कृतिक आत्मसातीकरण की प्रक्रिया में मातृसत्तात्मकता का पितृतंत्र में रूपांतरण स्त्री विघटन में सरन्जाम हुआ है।

देखने की वात यह है कि मातृसत्तात्मक सांख्यदर्शन की "प्रकृति" का परवर्ती वेदांतिक "माया" में विघटन पितृतंत्र के अधिकृत वर्चस्व की दार्शनिक अभिव्यक्ति है। सांख्यों का प्रधान तत्व प्रकृति है, जिसे समग्र परिदृश्य का आद्यकरण वताया गया है। इसमें पुरुष की भूमिका नितांत गौण है। वेदान्तियों का पुरुष मूल परमार्थिक सत्ता है और प्रकृति, माया के रूप में पुरुष की मात्र एक शक्ति (दासी) है और वह ही भ्रम जन्य है और एक विकृति जो यथार्थता को आवृत किए रखती है। जवकि देवताओं की यथार्थ शक्ति के रूप में माया के पूर्ववर्ती प्रयोग वैदिक स्त्री के अपेक्षाकृत सम्मानजनक सामाजिक स्थिति के सूचक हैं।

धर्म शास्त्रों के विधिवत् इतिहास लेखक काणे महोदय ने स्त्री की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में पाँच बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। एक, कालान्तर में पुत्रों की आध्यात्मिक महत्ता बढ़ती गई है, दूसरे बाल-विवाह और इस कारण स्त्रियाँ अशिक्षित रह जाती थीं। तीसरे, क्रमशः स्त्रियों को अपवित्र मानने की प्रथा बलवती होती गई है। चौथे, स्त्रियों का स्थान शूद्र कोटि में निर्धारित कर दिया गया था।

लेकिन प्राचीन काल में जब भी आदिम समाजों की मातृ-व्यावस्थाओं के पितृ-तंत्र में रूपांतरण का असहज स्वरूप रहा है वहाँ पितृतंत्र ने स्त्री के सामाजिक स्थान को अत्यन्त विकृत रूप में प्रस्तुत किया है। एहरेन्फेल्स ने भारतीय संदर्भ में इस विषय पर गंभीरता से काम किया है। उनका मानना हैं कि भारत में मातृ अधिकार को जिस आकस्मिक और कृत्रिम ढंग से समाप्त कर दिया गया, उसने भारतीय समाज में विशिष्ट रूप से तीन कुप्रथाओं को जन्म दिया। ये थीं, बहुपत्नी विवाह, बाल विवाह और सती प्रथा। (७)

बहुपत्नीविवाह के सम्बन्ध में ऐहरेनूफेल्स का निष्कर्ष था कि भारत में बहु-विवाह प्रथा का मुख्य कारण यह था कि पितृसत्तात्मक आव्रजक संगठित समूहों ने उन स्त्रियों पर पुरुष को हावी करने की इच्छा को लादना चाहा जिनकी स्वतन्त्रता और आत्मविश्वास की भावना को संगठित मातृसत्तात्मक समाज ने सबल बनाया था। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में स्त्री की स्थिति को गौण बनाने के लिए बहुपत्नीविवाह को साधन बनाया गया, और वैवाहिक संबंधों में सामाजिक दृष्टि से उसका स्थान नीचा हो गया। ऐहरेन्फेल्स का मानना है कि भारत में मातृसत्ता के प्रतिरोध को तोड़ने के लिए ऐसे विवेक हीन तरीके अपनाए गए जिन की मिसाल मानव इतिहास में और कहीं भी नहीं मिलती, जब कि मानव सभ्यता के विभिन्न चरणों में पितृसत्ता और मातृसता के बीच संघर्ष रहा ही है। इस दमन को भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व मातृसत्तात्मक सभ्यता के विशेष उत्साह और विकास में खोजा गया है। यही विशेष उत्साह और विकसित स्थिति

---

७. 'मदर राइट इन इंडिया', पृ. १२१।

थी जिसने नवागंतुक आर्यों की पितृसतात्मक प्रवृतियों को दृढ़ चुनौती दी। और इसलिए इसको समप्त करने के लिए ऐसे विवेकहीन तरीके अपनाए गए। यही बात बालविवाह के सम्बंध में भी है। जिन अन्य देशों में पितृसत्ता के बीच संघर्ष हुआ है, उनकी तुलना में भारत में बालविवाह की प्रथा होने का भी वही कारण है जो वहु विवाह का।

भारत में विधवा की स्थिति के कतिपय उल्लेख हम पीछे देख चुके हैं भारत में स्त्रियों की स्थिति के उत्तरोत्तर ह्रास का यह चित्र पुरुषों के समक्ष उन्हें दलित करने की प्रत्यक्ष प्रवृति को प्रदर्शित करता है। इसी प्रवृति के कारण विधवाओं के प्रति भीषण दुर्व्यवहार हुआ है। ऐहरेन्फेल्स ने स्पष्टतया स्त्री के प्रति निरन्तर चली आ रही द्वेषमूलक प्रवृति के स्रोत पितृसता और मातृसत्तात्मक व्यवस्थाओं के संघर्ष के भीतर तलाश करने की कोशिश की हैं। उनका कहना है कि ब्राह्मणीय परम्परा की स्त्री विरोधी भावना उस संघर्ष का परिणाम थी जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था वाले पर्यटनशील पशुपालक समूहों और मातृसत्तात्मक व्यवस्था वाली स्थानीय सभ्यता के बीच हो रहा था। आम तौर पर ऐसा प्रतिरोध ऐसी ही परिस्थितियों में अन्य देशों में नहीं हुआ था। भारत में स्त्रियों का स्तर उतरोत्तर गिरता गया और ब्राह्मणों की यह इच्छा प्रवल होती गयी कि उनके प्रतिरोध को सभी संभव उपायों से कुचल दिया जाए। यहाँ तह बात स्पष्ट हो जाती है कि पितृ सत्तात्मक व्यवस्थाओं के प्रतिनिधियों ने इसी अनुपात में आधिकाधिक भयंकर तरीके अपनाए।

विलियम रीक ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए बताया है कि पितृसत्तात्मक धर्मों की मूल चिन्ता रति-आवश्यकता का निषेध है। इस प्रकार पितृसत्तात्मक धार्मिक मत, स्त्रीमूलक धार्मिक मतों के "एंटीथीसिज़" रहे हैं। पितृसत्तात्मक वर्गीय विभाजन धर्म और रति को भी दो परस्पर विद्वेषमूलक कोटियों में बाँट देता है। इस विद्वेषता में रतिजन्य आनंद जो मूलतः भव्य, रचनात्मक और सौन्दर्यपूर्ण रहा है, नारकीय, दारुण और अपवित्र घोषित कर दिया जाता है।

ईश्वर और भक्त के पिता/पुत्र आदि संबंधों की शृंखला का स्रोत रति-दमित पितृ सतात्मक अनुभव होते हैं जो अन्तोगत्वा सत्ता के प्रति वफादारी में उपादेय साबित होते हैं इसलिए एक बार स्थापित हो जाने के बाद इन्हें दैवी प्रामाणिकता के साथ बनाए रखा जाता है। इनके टूटने के किसी भी खतरे की आकांक्षा की चिन्ता

के कारण धार्मिक ग्रंथों में बड़े दारुण अभिशापों की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार, धर्म में पितृीय निषेधात्मक दृष्टिकोण, "रति" के आन्तरिक अनुभव में परिवर्तन कर देता हैं और 'रति' क्रियाएँ व्यापक अपराध वोध से सम्वद्ध हो जाती हैं।

कृष्ण-भक्ति के गोपी भाव में इसे अच्छी प्रकार से समझा जा सकता है। कृष्ण आनर्य थे और उन जनजातियों से थे जो मातृसत्तात्मक जीवन-आचार के साथ सहज, स्वाभाविक और भव्य प्रकार के उन्मुक्त यौनाचार से सम्वद्ध थीं। कृष्ण के आत्मसातीकरण में, पुराणों के कृष्ण और गोपीभाव के विस्तृत वर्णन जनजातियों के के उन्मुक्त जीवन के अवशेष हैं।

कृष्ण भक्ति के चैतन्य सम्प्रदाय में परकीया की मान्यता है। गोपियां, लोक मर्यादा तोड़ कर रासलीला में भाग लेने जाती हैं। उनके पतियों को पति होने का मिथ्या आभास मात्र है। कृष्ण लीला के मादन भाव में पुराणों ने स्थान-स्थान पर राधा कृष्ण की परात्परता और पतित्व अहं को टाँक दिया है। रास लीला के वर्णन यह याद रखने में कोताही नहीं करते कि गोप पतियों में पत्नियों के अपने पास होने का आभास वना रहता है। जवकि वे कृष्ण लीला के निमित अन्यत्र होती हैं। इसके वाक्जूद ऐसे स्थल भी हैं, जिनमें इस आरोपण को रतिभाव में वाधक माना गया है। राग की परम इयता होने पर ही महा भाव का उदय होता है और यह महाभाव तभी संभव है जव समस्त दुःखों की चरम सीमा आर्यपथ ; भ्रंशशील कृष्ण प्रेम भी परम सुख का कारण हो। इस आर्यपथ भ्रंशशील कृष्ण प्रेम के मादन महाभाव की आदर्श स्वरूपा है राधा। (८)

चैतन्य सम्प्रदाय की मान्यता है कि मादन महाभाव का एक मात्र चरम विकास राधामें ही हुआ है। श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा को इस अनादि वस्तु का नित्य स्वरूप स्वीकार किया गया है जो इस अखिल ब्राह्मण्ड में व्याप्त होकर अपनी नित्य क्रीड़ा से आनन्द की अभिव्यक्ति करता रहता है। राधा, कृष्ण की उपासिका, आराधिका नहीं वल्कि श्री कृष्ण की उपास्या, अराधया है। सखी सम्प्र-

---

(८) उज्जवल नीलमणि, श्लोक, १८।

दाय की मान्यता है कि राधा श्याम की स्वामिनी हैं। यह विचित्र वात है। सब जग के ठाकुरों के ठाकुर तो हरि हैं। परन्तु राधा उनकी भी ठकुरानी हैं। प्रियतम अपनी प्राण प्रिया के मान को छोड़कर रतिदान की याचना करते हैं। श्री राधा का रतिदान ही हरि को अपने प्राणों की प्राप्ति कराता है। वे प्रिया के चरणों में गिरकर अपने जीवन को धन्य समझते हैं।

राधा वल्लभ सम्प्रदाय में राधा को ही परात्पर तत्वरूप में प्रतिष्ठित किया गया है। सम्प्रदाय प्रचारित इस रीति में राधा भोग्य है। "रसो वै सा:" रूप में रसस्वरूप राधा ने अपने को तो रसनीय रूप प्रदान किया है और अपने ही रस को भोग्य बनाने के लिए रसयिता रूप में उसकी परिणति कृष्ण है। इस प्रकार राधा यहां परमतत्व हैं। यह राधा भाव सांख्यों की प्रकृति के अनुरूप है। इसमें सांख्यों की प्रकृति से मातृतंत्र की उन्मुक्त अवगुण्ठन रहित रति प्रमाद भाव धारा जो लोक चेतना की अन्तश्चेतना से लुप्त नहीं हो सकी है—सन्निहित है। इसने पितृ तंत्र की कठोर मर्यादाओं की कुंठओं को खोलने की फेंटेसी का अभिनव आयोजन किया है। लेकिन यह आयोजन क्रमशः पुरुष तंत्र वेदांतिक दवाव में, सांख्यों की प्रकृति की तरह, दासत्व (दासी) भक्ति में परिणत होता गया है। अन्त में राधा भी कृष्ण की शक्ति के रूप में मान ली गयी हैं। आत्मार्थ और पदार्थ सृष्टि के दो भेद कल्पित करके कहा गया कि आत्मार्थ सृष्टि में केवल भगवान अपने स्वरूप का आप आनन्द लेते हैं। भगवान ने जीवार्थ सृष्टि के माया का रूप ग्रहण किया है। इसे उन्होंने प्रकृति कहा है और बताया गया कि वस्तुतः प्रकृति, पुरुष के दो रूप भगवान ने ही धारण किए हैं और सृष्टि लीला में ही केवल भगवान प्रकृति का अनुसरण करते हैं।

कृष्ण की रासलीलाओं पर यह पैवन्द वास्तविक समाज के दासता मूलक दवावों में स्त्री के निम्नस्तर का संस्कृतिक प्रकटीकरण था। इन विकृत रूपांतरणों ने अपराध बोध की कितनी कुंठाएं पेदा की होंगी, इसे परकीया भाव की भक्ति का व्यापक प्रचार - प्रसार करने वाले चेतन्य महाप्रभु के जीवन के एक वृतान्त से भली प्रकार समझा जा सकता है—

एक दिन चैतन्य गोंविन्द के साथ योगेश्वर टोटा के यहाँ जा रहे थे। रास्ते में जयदेव रचित "गीत गोविंद" की गुर्जरी राग में चित्ताकर्षक तान सुनकर वह

मुग्ध हो गए। गीत गोविंद के गान से मुग्ध होकर चैतन्य समाधि में चले गए और उस अवस्था में उस ओर भागने लगे जिधर से वह धुन आ रही थी। लेकिन वह गीत किसी गायिका द्वारा गाया जा रहा था। इसलिए गोविन्द, महाप्रभु के पीछे-पीछे भागता गया और वहाँ पहुंचने से पहले ही उन्हें रोककर कहा यह कोई नारी गा रही है। नारी शब्द सुनकर चैतन्य में लौकिक चेतना लौट आई और वे उस दिशा से वापिस लौट कर चले गए। फिर उन्होंने गोविंद से कहा "तुमने आज मेरे प्राणों की रक्षा की है। यदि मैं मनोदशा में अनजाने से उसके पास पहुँच जाता तो मेरी मृत्यु हो जाती। मैं तुम्हारा यह ऋण कभी चुका नहीं सकूँगा। तुम हमेशा मेरे साथ रहोगे और ध्यान रखते हुए हर जगह मुझे बचाओ"। कृष्ण-दास कविराज ने अपनी कृति "चैतन्य चरितामृत" के अंतिम लीला भाग में इस घटना का वर्णन किया है। चैतन्य कहा करते थे : मैं किसी ऐसे साधु का चेहरा नहीं देखना चाहता हूँ जो किसी औरत को संबोधित करता है। अनिवार आवेग पराभूत कर देते हैं। नारी ऋषियों के मन को वशीभूत कर लेती है - मौसी और पुत्री के निकट भी नहीं बैठना चाहिए क्योंकि विद्वान पुरुष भी सशक्त आवेगों के आकर्षण में आ जाते हैं। जबकि वे स्वयं श्रीमद्भागवत में कृष्ण से बिछुड़ गयी गोपियों के विरह-विह्वल होकर उन्मत्त हो जाते थे। अत्र यदि कृष्ण भक्ति की उन्मुक्त रति-क्रियाओं के वर्णनों में जन जातियों के सामुदायिक तथा स्वच्छन्द आचार का आत्मसातीकरण था ; पर इसके अन्तर्गत वास्तव में जनजातीय स्त्रियों का भरपूर यौन शोषण हुआ है। जनजातीय क्षेत्रों के कृषि विस्तार में, सामन्तीय हस्तांतरण था। जनजातीय लोग दास अथवा बेगार कर्मी से अधिक नहीं रहने दिए गए। इन क्षेत्रों के आस-पास नियंत्रक शक्तियों के केन्द्रों के रूप में मंन्दिरों की स्थापना की गई। इन मंन्दिरों के प्रचार तंत्र द्वारा, वर्णव्यवस्था आदि ब्राह्मणीय संस्थाओं को दैवी प्रामाणिकता के छल से लागू किया गया। जनजातीय स्त्रियों पर देवदासी आदि प्रथाओं के अन्तर्गत अधिकार प्राप्त कर लिया गया। इन प्रथाओं के अद्यतन प्रचलित रूप जन जातीय स्त्रियों के शोषण के स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करतें हैं।

देवदासी, वसावी, शालवादल, वेंकेटसत्री आदि कुछ ऐसीही प्रथाएं हैं। देवदासी प्रथा आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक के कई जिलों में सदियों से चली आ रही है। मुख्य रूप से कर्नाटक—महाराष्ट्र सीमा के बेलगाँव धारवाड़ बीजापुर, गुलबर्गा में फैला हुआ है। एक गैर सरकारी संस्था के सर्वेक्षण से पता चला है कि प्रायः दस से पंद्रह

LARGEST CIRCULATION
in
C. P. & Berar C. I. & Rajputana.

THE KARMAVEER

(Weekly)

KHANDWA, Dt ______

[illegible]

[illegible]

माखनलाल चतुर्वेदी : हिन्दी समाज, शान्तिनिकेतन।

कर्मवीर

उच्च कोटि का राष्ट्रीय साप्ताहिक

पत्र संख्या______ खण्डवा. ता: ______

[illegible]

प्रिय नारायण,

[illegible]

माखनलाल चतुर्वेदी : हिन्दी समाज, शान्तिनिकेतन।

हजार वालिकाएं हर वर्ष देवदासियां वनती हैं। उनकी उम्र ८ से १५ के बीच होती है। वे भगवान से अपनी शादी करती हैं। और उनकी सेवा में अपने को अर्पित कर देती हैं। इन किशोरियों का यौन शोषण वहाँ के पुजारियों द्वारा शुरू होता है और ग्रामवासियों के माध्यम से आगे बढ़ते हुए मुंबई, दिल्ली और कलकत्ता के रेड लाइट एरिया की बंद कोठरियों में समाप्त होता है।

देवदासी की तरह बसाबी प्रथा, आंध्रप्रदेश के कई जिलों में प्रचलित है। परम्परागत रूप से बसावी शादी नहीं करती है। भगवान के सामने नृत्य करती है। आंध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र के उतरी-पश्चिमी जिलों में "जोगिन" नाम की प्रथा विशेषकर अनुसूचित जातियों के बीच काफी प्रचलित है।

वेकेंटसत्री वनने की प्रक्रिया भी यौन शोषण का एक विकृत रूप है। १० या १२ वर्ष की हो जाने के वाद किशोरियों को गांव के मंदिर में नहलाकर लाया जाता है। उसके वाद गांव के १० से १२ अर्द्धव्यस्क व्यक्ति उनके साथ समूहिक वलात्कार करतें है। मंदिर के वाहर त्यौहार जैसा उत्सव होता है। प्रसाद और मिठाई बाँटी जाती है। अगर कोई किशोरी इस शारीरिक और मानसिक यातना से सकुशल वाहर आ जाती है तो उसे वेकेंटसत्री कहा जाता है।

कर्नाटक के वेलारी जिले के शलबागल गांव के ब्राह्मण जाति के लोगों को यह आजादी है कि वे किसी किशोरी के साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। इसके वदले उस बच्ची का पिता अपना सौभाग्य समझकर भोज देता है। और गाजे-वाजे के साथ ब्राह्मण अतिथि का भव्य स्वागत होता है।

जनजातीय लोगों का यह दुर्भाग्य ईसा की छठी शताब्दी से अधिक विकट और जटिल होता गया है। धार्मिक प्रामाणिक ग्रंथों ने इसे अन्तश्चेतना का हिस्सा बना दिया है। "शूद्र" तथा "स्त्री" के दारुण कष्टों की जिम्मेदारी उनको "पाप योनि" पर है और उसकी मुक्ति की संभावना केवल अपने स्वामियों की सेवा में है। धर्मशास्त्रों का यही तथाकथित तर्कसम्मत वर्ण और स्त्री धर्म है। उल्लेख किया जा चुका है कि तर्क धर्मशास्त्र कि परिधि में ही हो सकता था। धर्म शास्त्र ज्ञान प्रमाणों के प्रमुख स्रोत मान लिए गए थे। स्वतंत्र चिंतन और तर्क महापाप था। धर्म शास्त्रों के यह कथन और आरोपित अशाक्ततताओं के धर्म-उपदेश मूलतः जन-जातीय दासों और स्त्रियों के सामन्तीय बंधनों को दैवी प्रमाणिकता द्वारा अन्तश्चेतना के स्तर पर

दृढ़ बनाने के लिए थे। इन्हें पढ़ने के लिए सुविधाएं अथवा अधिकार दिए नहीं जा सकते थे अतः भक्ति भाव से ओत-प्रोत पुराणों, महाकाव्यों के ढाँचें में प्रक्षिप्त कथा-कहानियों के श्रवण-संचार-माध्यमों से इन लोगों की सामुदायिक चेतना के स्थान पर अशक्तताओं को स्वयमेव, सहजता से मान्य बनाया जाता रहा है। पुराणों के नैतिक उपदेशों के प्रत्येक चरण से एकाध महात्म सम्वद्ध कर दिया जाता है जिसमें उन उपदेशों के पालन का भौतिक फल दिखाया गया है। अमुक अध्याय के श्रवण-मनन से अमुक लाभ होगा। ये वृत्तान्त बहुत रोचक और जनजातियों के अपने कर्मकाण्डों की अपेक्षा बहुत सरल और सहज थे। पितृसत्ता, राजसत्ता, ईश्वरीय सत्ता की कृपाकांक्षा के मनोवैज्ञानिक विभ्रमों के द्वारा उन्हें श्रद्धा, आस्था, भाव-मूलक भक्ति में बांध दिया गया। शुरू में इस प्रचार के तंत्र का संचालन सत्ता के संरक्षण में पल्लवित होता रहा। कथा वाचन के अभूतपूर्व कौशल द्वारा, भक्ति भाव से चेतन को इस कदर अभिभूत कर दिया गया कि किसानों-शिल्पियों के लिए तकनीकी विकास और तर्कपूर्ण मानसिकता के सब रास्ते बंद हो गए और ये लोग भाग्यवाद, संतोष, कर्मफल, अवागमन, मोक्ष आदि विभ्रमों के जाल में बंदी बना दिए गए। सामन्तीय केन्द्रों को अब इनकी ओर से कोई भय नहीं था। केंद्रीय सत्ता के टूटने, बदलने, अराजकता और बाह्य आक्रमणों में यह स्थिति अपरिवर्तनीय बनी रही है। इसके लिए भारतीय संस्कृति की शाश्वतता के गर्व की निर्लज्जता को, धार्मिक ग्रंथों की प्रामाणिकता एक मजबूत कवच प्रदान करती आ रही है।

१३-१४ वीं शताब्दी के आसपास तुर्कों के व्यापक परिवर्तनों के फलस्वरूप इस मध्य-कालीनीकरण में दरारें पड़ती दिखाई दी हैं। १४ वीं शताब्दी नकदी भुगतान बहुत व्याप्त हो गया था। तुर्कों द्वारा आयोजित अन्य अनेक सुविधाओं के उपलब्ध होने से उपभोग के लिए उत्पादन की स्थिति के बाजार के लिए उत्पादन में बदलने की प्रक्रिया के अन्तर्गत नगरीकरण की संभावनाएं बनीं। कारीगरों के आर्थिक महत्व की अभिवृद्धि की अभि-व्यक्ति जो उक्त परिवर्तन का परिणाम रही होगी, १५-१६ वीं शताब्दी के भक्ति आंदोलन में शिल्पियों की पर्याप्त भूमिका में देखी जा सकती है। इस आंदोलन का साहित्य लोकप्रियता के तहत जन चेतना में बहुत गहरे तक आत्मसात हुआ है। इतना ही नहीं गीता, पुराण, रामायण, महाभारत, आदि के साथ कबीर, नानक, सूर, तुलसी, आदि का साहित्य भी अधिकांश जन समुदाय के धार्मिक क्रिया-कलाप का अभिन्न अंग है।

ध्यान देने की वात है कि संतों के सामन्तविरोधी और समतामूलक प्रयत्न मध्यकालीन पुरुष वर्चस्व मानसिकता से छुटकारा नहीं पा सके हैं। पुरुषत्व-पूर्वाग्रह के कारण उनकी विचारधारा के क्रान्तिकारी मुद्दे अन्ततोगत्वा पुनः साम्प्रदायिकता, रूढ़िवादिता और यथास्थिति के पिष्टपेषण में विलीन हो गए हैं। संतों के यहाँ एक ओर भक्ति के दास्यभाव के लिए स्त्री स्वर का प्रयोग है तो दूसरी ओर "काम निषेध में स्त्री के वजूद को ही अवमानित कर दिया गया है। भक्त की दास्य और निरीह भावाभिव्यंजना में कवीर राम का कुत्ता है, और उस पर मुतिया नाम से। कुत्ता और वह भी मुतिया, निरीहता का चरम रूप है यह। कवीर के यहाँ स्त्री रूपक निरीहता को गहराने में प्रयुक्त किए मिलते हैं। इन प्रयोगों में कवीर परमात्मा के अनुग्रह के लिए व्याकुल हैं। वेबसी से उवरने के प्रयोजन में कृपा आकांक्षा की दृढ़ता का आग्रह है। इससे दयनीयता के लिये प्रयुक्त प्रतीकों की निजी दासत्वा वास्तविकता और अधिक घनीभूत होने लगती है।

कवीर के लिए सती का त्याग साधु और वीर के स्तर का है।(९) सती ने सत्यव्रत धारण कर लिया है, काठ की शैय्या है, सवको त्यागकर सती प्रियतम के साथ लेट गई है। चारों दिशाओं में उसने आग जला ली है।(१०) सती चिता में जलने के लिए निकल पड़ी है। प्रिय का स्नेह स्मरण कर जिस शब्द को उसने सुना, उससे देहभाव समाप्त हो गया। देह दशा भूल गई।(११) सती जलने के लिए निकल पड़ी है। चित्त से विकारों को हटाकर पति-ध्यानस्थ है, उसने तन-मन प्रिय को समर्पित कर दिया है।(१२)

कवीर के यहाँ सती के लक्षणों के माध्यम से भक्त का आदर्श रूप चित्रित करने की कोशिश हुई है। शीलवंत, शूर, ज्ञानानुरक्त, अतिउदारचित, दयालु, धर्मपालक, वीर, संतोषी, सुखदाता, सेवक, परमसुजान, चतुर, विवेकशील, क्षमावान्, वुद्धिमान, आज्ञावान्,

---

९. कवीर समग्र, पृ० ३३२
१०. वही
११. वही
१२. वही

मुंदित, सत्यनिष्ठ, परोपकारी, हरिजन, सेवक, परम संतोषी ही सती आदर्श को प्राप्त करता है। "सती" स्वयं में भक्ति का प्रमाण है और इस प्रकार मक्ति दाता है। (१३)

कवीर कहते हैं जिस प्रकार सती शृंगार का त्याग कर देती है, उसी प्रकार प्राणी को कर्मों का त्याग कर देना चाहिए। (१४)

लक्ष्य किया जा सकता है कि कवीर की भक्ति का सती आदर्श, प्रतीकात्मक आधार के रूप में सती-प्रथा के औचित्य में सन्निहित हो जाता है। प्रतीक की निजी सामर्थ्य पर ही रचयिता, विचारधारा का प्रारूप निर्मित करता है। इस प्रयोग की प्रभावशीलता, प्रतीक के वास्तविक आधार की लोक चेतना में पैठ, वैधता और प्रचलन पर निर्भर करती है। तदन्नतर मौखिक साहित्य की लोकप्रियता प्रतीकों के उत्स की स्थिति को औचित्य और दृढ़ता प्रदान करती है। श्रोता की अन्तश्चेतन में स्वतः यह क्रिया-अनुक्रिया वनती चली जाती है। सती प्रतीकों की इस परिणति का अनुमान लगाया जा सकता हैं।

कवीर के यहाँ भक्त के लिए पर्दों में रहने वाली संयमशील स्त्री का आदर्श निर्धारित किया गया है। (१५) पति द्वारा स्त्री को छोड़ देना कितना स्वाभाविक और औचित्यपूर्ण है : कवीर कहते हैं, "परमात्मा उसी प्रकार भक्तिरहित प्राणी का त्याग कर देता है, जिस प्रकार बिना दांत के वृद्ध पशु की भांति पति, पत्नी को छोड़ देता है। (१६) ये प्रतीकात्मक प्रयोग स्त्री के विघटित स्वरूप की सूचना तो देते ही हैं, साथ ही संकेतात्मकता में प्रत्यक्ष रूप से विघटन को ही वैध वना देते हैं।

दूसरी ओर "काम-प्रतीक' में मोक्ष की सवसे वड़ी बाधा मानते हुए, कवीर ने स्त्री का अवमानना-परक चित्र प्रस्तुत किया हैं। "वाघिन", "सर्पिन", "विषवेल", "नरक-कुंड" आदि जाने क्या-क्या वीभत्स विम्व प्रयुक्त हुए हैं :
स्त्री काली नागिन है :

---

१३. पृ० ३९५
१४. पृ० २८४
१५. कवीर संग्रह, पृ० २८४।
१६. वही

कांमणि काली नागणीं तीन्युं लोक मंझारि। (१७)

स्त्री मधुमक्खी के छत्ते की तरह है. छेड़ने पर काट लेती है।

कांमणि मीनीं षांणि की. जे छेड़ौं तौ खाइ॥ (१८)

स्त्री का संसर्ग प्रेम. वुद्धि. विवेक आदि सब सद्गुणनष्ट कर देता हैं।

नारी सेती नेह. वुद्धि. विवेक सबही हरे,
कांइ गमावे देह, कारिज कोई नां सरे॥ (१९)

स्त्री में अनुरक्त मनुष्य को भक्ति. मुक्ति और ज्ञान तीनों समाप्त हो जाते हैं.

नारी नसावैं तीनि सुख. जा नर पासैं होइ
भक्ति मुक्ति निज ग्यान में. पैसि न सकई कोई॥ (२०)

स्वर्ण और स्त्री विषफल हैं. जिसका संसर्ग और भोग विषमय होता है.

एक कनक अरु कांमनी, विषफल कीए उपाइ
देखे ही थे विष चढ़े. खांये सूं मरि जाय।

स्वर्ण और स्त्री को अग्नि-खान कहा गया. देखते ही आग धधक उठती है. स्पर्श विनाश कर देता है।

एक कनक अरु कांमनी, दोउ अगनि की झाल
देखें ही तन प्रजले, परस्याँ ह्वे पैमाल॥

स्त्री के प्रेम ने तवाह कर दिया है. कितने ही लोग हंसते-हंसते नरक में जा रहे हैं।

कवीर भग की प्रीतड़ी, केते गए गड़ंत।
केते अजहूँ जायसी नरकी हसंत-हंसत॥

स्त्री नरक कुंड है. जिससे कोई विरला साधु जन ही बच पाता है.

---

१७. वही पृ० २८५
१८. वही
१९. वही।
२०. वही।

नारी कुंड नरक का, बिरल थंभै वाग।
कोई साधू जन उवरे, सव जग मूंवा लाग॥

जाहिर है कि कबीर ने मनोविकारों से "कामपरकता" के दमन पर अत्यधिक जोर दिया है और ऐसे स्थानों पर "स्त्री' उनके लिए कामुकता का प्रतीक है। इस सन्दर्भ में स्त्री को गर्हित और त्याज्य माना गया है। कामोद्दीपन के लिए एकमात्र स्त्री को ही महापातकी मानने की बहुत गहरी नृत्तत्वशास्त्री, समाज-सांस्कृतिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि रही है। जिसका खुलासा किये विना, सतही तौर पर देखते हुए कबीर तथा अन्य निर्गुण सन्तों की सामाजिक-चेतना अन्तर्विरोधपूर्ण दिखाई देने लगती है। सामाजिक विषमता पर प्रहार करते हुए निर्गुण सन्तों की वाणी में, "स्त्री" जैसे हाशिए पर है। वह एक सामाजिक पहचान से वंचित होकर या तो दासत्व का प्रतीक है या काम-व्यभिचार जैसे महापातकों की कारण स्वरुप एक वस्तु। दासत्व और कामुक प्रतीकात्मकता के ये दो रूप, दो भिन्न परस्पर विरोधी परम्पराओं से ग्रहण किये गये हैं।

गुरु नानक ने यद्यपि एक स्थल पर वताया है कि जो स्त्री राजाओं की जन्मदात्री है, उसे भला गन्दा क्यों कहा जाए पर उनकी भक्ति में भी समग्र रूप से पितृतंत्रात्मक मूल्यों का एक जटिल और अविच्छिन्न अनुकूलन है और जिन्हें भक्ति में समायोजित कर लिया गया है।

गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति का मूल स्वर श्रुति, स्मृति समर्थितवर्ण व्यवस्था का पक्षधर है। इसलिए उनके यहाँ शूद्र और स्त्री की पौराणिक धारणा वेखटके व्यक्त हुई है। उनका मानना है कि—'ढोल, गवाँर, शूद्र, पशु, नारी, ये सव ताड़न के अधिकारी।' एक अन्य स्थल पर तुलसीदास का कथन है "सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित वस नहिं लेखिअ। राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुवती सास्त्र नृप वस नाहीं" (मानस ३-३६ /९-१०) — ये पंक्तियां स्त्री निन्दा का कुत्सित उदाहरण हैं। इनमें स्त्री के शीलभंग स्वभाव की ओर संकेत है। चौपाई का सीधा अर्थ है कि नारी अविश्सनीय होती है और स्वयं दुराचरण के अवसर खोजती हैं।

इस वात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन ग्रंथों के सांस्कृतिक आत्मसातीकरण को निरन्तर गहराया जा रहा है। ऊँचे तबकों के अनुकरण पर जिस प्रकार वर्ण व्यवस्था से अभिशापित दलित निम्न जातियाँ अपने तबकों में पुनः अनेक जातियों,

बिरादरियों की बाँट का शिकार होकर प्रतिरोध की एक जुटता बटोरने में सफल नहीं हो सकीं। उसी प्रकार स्त्रीवर्ग भी' मध्यकालीन प्रक्रिया में पुरूषत्व अहम्मन्यता को आत्मसात करते हुए अपनी वास्तविक मुक्ति के लिए एकजुट हो पाने में सक्षम नहीं हो पा रहा। दलित - और स्त्री-मुक्ति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः संचार माध्यमों द्वारा मध्यकालीनीकरण के निरन्तर गहराए जाने की दुरभिसन्धि से सचेत होकर इन तबकों को स्वयं अपने दार्शनिक तैयार करने होंगे। जो उन्हें मध्यकालीनीकरण की कुंठाओं से छुटकारा दिलाकर उनके लिए नए सांस्कृतिक रूपांतरणों का मार्ग प्रशस्त कर सकें।

—०—

मध्ययुग में भारतीय गणित-चिन्तन

डॉ० रवीन्द्रनाथ चटर्जी

काल या समय अपनी गति से अविराम प्रवाहित हो रहा है। उसका आदि एवं अन्त नहीं है। मनुष्य ने अपने काम की सुविधा के लिए इस प्रवहमान समय को तीन भागों में विभाजित किया है —प्राचीन युग, मध्ययुग और आधुनिक युग। पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में ४७६ ई० में विभिन्न बर्बर जातियों के आक्रमण के कारण रोमन साम्राज्य के पतन को ही हम मध्ययुग के इतिहास का प्रारम्भ मान सकते हैं। सातवीं शताब्दी तक इसकी व्याप्ति थी।

यूरोप के इतिहास को मध्ययुग का अन्धकार युग कहा जाता है। ग्रीक - रोमन सभ्यता की जो कुछ भी महान् सृष्टि थी, वर्बर जातियों ने उन सबको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। यूरोप ने अपनी शुभ संस्कृति के समूचे उत्तराधिकार को खो दिया। हमारे भारतवर्ष का इतिहास भी लगभग इसी प्रकार का है। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में "निशीथ काल की एक दुःस्वप्न कहानी मात्र। कहाँ से कौन लोग आये, मार-काट और दंगा शुरू हो गया, बाप-बेटे, भाई-भाई में सिंहासन के लिए खींचा-तानी होने लगी। रक्त-वर्ण-रंजित परिवर्तनशील इस स्वप्नदृश्य में केवल नर्तकियों का नृत्य छन्द और अस्त्रों की झंकार ही सुनाई पड़ती है।" किन्तु इस अस्थिरता के बीच भी भारत का असली जीवनस्रोत प्रवहमान था। इसीलिए इस अन्धकार के बीच ही संतकवि दादू, नानक, कबीर, रामानन्द, तुकाराम, चैतन्यदेव आदि प्रेम-मैत्री, विवेक-वैराग्य की रश्मि में सत्यानुसंधान की अनुप्रेरणा देने के लिए प्रकाश की तरह आविर्भूत हुए। आलोच्य युग में ही हमें मिलता है—स्थापत्य और मूर्तिकला का अविस्मरणीय कीर्तिस्मारक अजन्ता, एलोरा, एलिफेण्टा का गुफामन्दिर, कोणार्क का रथमन्दिर, पहाड़ काटकर बनाया गया महाबली-पुरम् का मन्दिर और संगमरमर से बनाया गया 'काल के कपोल तल में शुभ्र समुज्ज्वल' ताजमहल। ये समूचे आश्चर्यजनक उदाहरण भारत में विज्ञान और गणित की उन्नति के बिना कदापि संभव नहीं थे।

इसी काल में भारतवर्ष में गणित और ज्योतिर्विज्ञान की चर्चा में एक उज्ज्वल अध्याय की सूचना होती है। हिन्दू गणितज्ञों की आश्चर्यजनक मौलिकता और उनकी

विशिष्टता का परिचय मिलता है। यूरोप में जब ग्रीक-रोमन गणित की परिसमाप्ति हुई थी, तब भारतवर्ष में आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, भास्कर आदि वैज्ञानिकों के नेतृत्व में ज्ञान-विज्ञान उन्नति के चरम-शिखर पर था। मध्ययुग भारतीय गणित-चिन्तन के इतिहास के सम्बंध में कहने के पूर्व प्राचीन काल के गणित के इतिहास का स्मरण उसी प्रकार जरूरी है जिस प्रकार दीपक जलाने के पहले बत्ती तैयार करना। सभ्य मनुष्य के समाज में विज्ञान के जितने विभाग प्रचलित हैं उनमें गणित ही सबसे प्राचीन और प्रारम्भिक विषय है। समूचा विज्ञान, समूचा कला-कौशल ही गणित पर निर्भरशील और गणितज्ञान सापेक्ष है। प्राचीन काल में भारतीयों ने गणित को कितना ऊँचा स्थान दिया था, इसका प्रमाण वेदांग के निम्न श्लोक में मिलता है—

"यथा शिखा मयूराणां
नागानां मनयो यथा,
तद्वद्व वेद्वांग शास्त्राणां
गणितं मूर्धानि स्तित्म्।"

—वेदांग ज्योतिष (ई० पू० 600)

अर्थात् वेदांग शास्त्र में मोर की शिखा और नाग की मणि की भाँति गणित की अवस्थिति शीर्ष स्थान पर है।

गणित शब्द गणना से निर्मित है। गणित का अर्थ है गणना विज्ञान-जिस विशेष ज्ञान के सहारे गणना की जाती है। सुदूर अतीत में मनुष्य केवल दो संख्याओं की गिनती ही जानता था। उसके बाद उसने दोनों हाथों की दस उँगलियों के सहारे दस तक गिनना सीख लिया। दस के आधार पर गिनती करने की दशमलव पद्धति का आविष्कार प्राचीन काल के हिन्दुओं ने किया था। तब गिनने से उँगलियों का अविच्छेद्य संबंध था। संख्या की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक और संकेतों का प्रचलन था। लेखन की प्रारंभिक अवस्था में प्रत्येक संख्या अलग - अलग चित्रों के माध्यम से अभिव्यक्त की जाती थी। अक्षरों के आविष्कार के बाद प्रत्येक संख्या को अलग-अलग अक्षरों से समझाने की कोशिश की शुरुआत हुई। लेकिन उसमें भी असुविधा होने लगी। अक्षर कम थे, संख्या अधिक थी, अर्थात् बड़ी संख्याओं को केवल अक्षरों में लिखना संभव नहीं था। इसलिए एक ऐसी पद्धति की जरूरत महसूस की जाने लगी जिससे कम से कम प्रतीकों के द्वारा अधिक से अधिक संख्या लिखी जा सकें। ई० पू० दूसरी शताब्दी से ई० तृतीय शताब्दी तक केवल दस संख्या 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, और 0 के सहारे दशमलव स्थानिक अंक पातन के नियम द्वारा (Decimal Place Value Nota-

tion Rule) किसी भी संख्या को अभिव्यत्त करने की पद्धति का आविष्कार भारतीयों ने किया था, विश्वविज्ञान के इतिहास में यह चिरस्मरणीय है। इस नियम में संख्या की इकइयों को एकक, दशक' शतक, सहस्र, इत्यादि भागों में दाहिने से बायें तक विभाजित किया जाता है। प्रत्येक इकाई का मान पूर्ववर्ती इकाई से दसगुना होता है। उदाहरण स्वरूप पाँच हजार छह सौ बत्तीस को निम्नरूप से लिखा जाता है—

हजार	शतक	दशक	एकक
5	6	3	2

गुजरात में ई० 595 की जो प्राचीनतम खुदाई की हुई लिपि मिलती है उससे पता चलता है कि सन् / तारीख का उल्लेख करने में भी इस पद्धति का इस्तेमात किया गया है। लेकिन वहाँ उन्होंने सन् लिखा था 346। दशमलव स्थानिक अंकपातन की पद्धति के आविष्कार के साथ शून्य का आविष्कार ओत प्रोत रूप से जड़ित है। सात हजार चौबीस को अंकों में अभिव्यक्त करने के लिए हजार, सात, बीस और चार सबके लिये अलग-अलग प्रतीकों की जरूरत पड़ती। दशमलव स्थानिक अंकपातन में सहस्र तथा हजार के वर्ग में, 7, शतक के वर्ग में कुछ नहीं, दशक के वर्ग में 2 और एकक के वर्ग में 4 लिखना होगा। अब इस शतक के वर्ग में कुछ भी नहीं के प्रतीक के रूप में शून्य का इस्तेमाल किया जाता है। अतः शून्य का आविष्कार न होने की स्थिति में इस पद्धति द्वारा अंकपातन संभव नहीं होता। ई० पू० सन् 200 में पिंगल रचित 'चन्दसूत्र' ग्रंथ में शून्य का इस्तेमाल दिखाई पड़ता है। अनुमान किया जाता है कि इसके आठ सौ वर्ष पूर्व शून्य की कल्पना सबसे पहले भारत में ही की गई थी। भारतीयों की अंकपातन पद्धति सातवीं शताब्दी में सीरिया के ज्योतिर्विज्ञ निक-साधू सेवेरस सेवोखा ई० 662 की कृति के माध्यम से अरब दुनिया में फैल गयी थी। नवीं शताब्दी के अरब गणितज्ञ अल्-ख्वारिज़्मि ने अपने गणित ग्रंथ में इस पद्धति की चर्चा की थी। दसवीं शताब्दी में इस ग्रंथ के लैटिन अनुवाद के माध्यम से यूरोप वासियों को दशमलव अंकपातन पद्धति की जानकारी मिली। भारत के इस कृतित्व से ईर्षान्वित होकर यूरोपीय इतिहासकार हिन्दुओं की इस अंकपातन पद्धति को बहुत दिनों तक अरब संख्यापातन पद्धति ही बताते रहे। शून्य के आविष्कार तथा दशमलव अंकपातन आविष्कार से न केवल गाणितिक अग्रगति ही सुगम हुई वरन् परवर्ती काल में विज्ञान की सर्वांगीण उन्नति में भी इससे विशेष सहायता मिली। प्रसिद्ध इतिहासकार ए. एल. बॉसम ने कहा है, 'अपरिचित व्यक्ति जिसने नई पद्धति की खोज की भारत का अत्यन्त महत्वपूर्ण सपूत था। उसकी उपलब्धि को जितना महत्त्व मिलना

चाहिए उतना मिला नहीं किन्तु वह एक अत्यन्त विश्लेपणात्मक प्रतिभा का धनी था और अभी तक जो सम्मान मिला है उससे कहीं अधिक सम्मान का वह अधिकारी है।'

गणित के इतिहास में संख्यापातन पद्धति के अतिरिक्त भारत का एक और मौलिक अवदान है— त्रिकोणोमिति में साइन अपेक्षक की उपस्थापना। त्रिकोणोमिति में साइन सारणी प्रस्तुत करना भी भारतीय गाणितिक प्रतिभा का उज्ज्वल दृष्टान्त है।

पर्यवेक्षण-निर्भर ज्योतिर्विज्ञान (एस्ट्रोनोमी) ही प्राचीन कालमें विज्ञान का एकमात्र प्रतिनिधि था, और कार्यतः गणित फलित प्रयोग का एकमात्र क्षेत्र था। दूरबीन का सहारा लिए बिना केवल अपनी आँखों से ही पर्यवेक्षण करके भारतीयों ने असामान्य कृतित्व का परिचय दिया था।

अब हम मध्ययुग में भारतीय गणित और ज्योतिष की अकल्पनीय अग्रनि के बारे में कुछ कहेंगे। मध्ययुग में भारतीय गणित मुख्यतः पाटिगणित और बीजगणित को ले कर गठित हुआ था। ज्यामितिक गवेषणा में हिन्दू लोग उस तरह की किसी मौलिकता का परिचय नहीं दे सके। ज्यामिति की जो थोड़ी बहुत चर्चा थी वह परिमिति विद्या (मैनसुरेशन) के द्वारा ही थी, लेकिन ज्यामिति (ज्योमेट्री) से त्रिकोणोमिति (ट्रिगनमेट्री) में ज्यादा सफलता मिली थी।

भारत में प्राचीन युग में ज्यामिति चर्चा का निदर्शन ग्रीक गणितज्ञ पिथागोरस (Pithagoras) (580 - 500 ई० पू०) के समसामयिक अपस्तम्ब के 'सुलभ सूत्र' ग्रंथ में मिलता है जिसकी सूत्रावली का इस्तेमाल यज्ञ की वेदी और मन्दिर निर्माण के कार्य में होता था।

रोम साम्राज्य का ध्वंस 476 ई० में हुआ था। इसी वर्ष बिहार के पटना के निकट कुसुमपुर में तत्कालीन श्रेष्ठ हिन्दू गणितज्ञ और ज्योतिर्विद आर्यभट का जन्म हुआ था। अधिकांश भारतीय वैज्ञानिकों, दार्शनिकों शिल्पकारों के जीवन की भाँति उनके व्यक्तिगत जीवन के बारे में भी कुछ विशेष जानकारी नहीं मिलती। 'आर्यभटीय' (499 ई०) उनकी एक क्षुद्र पुस्तिका मात्र है। एक सौ इक्कीस श्लोकों की यह एक सुन्दर छन्द बद्ध रचना है। युक्लिड के 'एलीमेंट्स' ग्रंथ से इसकी तुलना की जा सकती है। दोनों ही पहले किये हुए कार्य के संक्षिप्त रूप हैं। 'एलीमेंट्स' विशुद्ध गणित के विमूर्त चिन्तन की तार्किक अभिव्यक्ति था तो 'आर्यभटीय' एक वर्णनात्मक ग्रंथ था। इसमें ज्योतिर्विद्या और परिमिति विद्या की नियमावली और सूत्रावली

विवृत हुई है, लेकिन हम यह नहीं जानते कि कैसे और किस पद्धति से आर्यभट इन सिद्धान्तों पर पहुँचे थे। इस पद्धति की चर्चा उन्होंने केवल अपने शिष्यों से अध्ययन-अध्यापन के प्रसंग में मौखिक रूप से की थी। इस ग्रंथ में उन्होंने वर्गमूल, धनमूल, समान्तर श्रेणी की समष्टि, त्रैराशिक, समीकरण समाधात तथा घनफल के समष्टि की आलोचना की थी। उन्होंने ही सर्वप्रथम एक मात्रा के अनिर्णेय समीकरण (linear indeterminate equation : by—an = c) के साधारण समाधान का निर्णय a, b, c, के भिन्न भिन्न पूर्णमान के द्वारा किया था। आर्यभट ने त्रैराशिक नियम की व्याख्या की थी। इसके अलावा उनके ग्रंथ में शतरंज पद्धति द्वारा गुणा करने की पद्धति भी है। शतरंज खेल कीं शतरंजीं की भाँति गुण्य और गुणक को सजा कर इस गुणा को किया जाता है। 735 को 12 द्वारा गुणन को निम्नलिखित सारणी द्वारा समझा जा सकता है—

	7	3	5
1	7	3	5
2	1 4	6	1 0
8	8	2	0

परिमिति की चर्चा हम अभी करेंगे। लेकिन दुःख की बात है कि परिमिति का उनका आधा सूत्र ही गलन है। उन्होंने ठीक ही कहा है कि त्रिभुज का क्षेत्रफल भूमि और उच्चता के गुणफल का आधा होता है। उनका यह सूत्र भी सही है कि वृत्त का क्षेत्रफल परिधि और व्यासार्ध के गुणफल का आधा होता है। किन्तु पिरामिड और गोलक के घनफल के निर्णय में उन्होंने जिन दो सूत्रों का उल्लेख किया है दोनों ही गलत हैं : जैसे—

$$\text{पिरामिड का घनफल} = \frac{\text{भूमि} \times \text{उच्चता}}{2}$$

$$\text{गोलक का घनफल} = (\text{महावृत्तका क्षेत्रफल})^{\frac{3}{2}}$$

किन्तु क्षेत्रफल और घनफल के निर्णय में पाई (π) अर्थात् वृत्त की परिधि और व्यास के ध्रुवक अनुपात का मान 3·1416 सटीक रूप से वर्णित की थी।

मिस्र के ज्योतिर्वैज्ञानिक टलेमी ने 140 ई० में भूकेन्द्रीय (Geo-centric) मत का प्रतिपादन किया था। इस मत के अनुसार पृथ्वी स्थिर रहती है और उसको केन्द्र बना कर सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र वृत्ताकार में घूमते रहते हैं। इसके साढ़े तीन सौ वर्ष

वाद आर्यभट ने अपने सूर्यकेन्द्रिक (helio centrjc) सिद्धान्त में कहा कि सूर्य स्थिर है. पृथ्वी ही उसके चारों आर घूम रही है, फलस्वरूप ऋतुपरिवर्तन होता है। उन्होंने यह भी घोषणा की थी कि तारामण्डल निश्चल है। पृथ्वी अपने दोनों मेरू की संयोजक अक्षरेखा को केन्द्र वनाकर अपने चारों ओर घूमने के फलस्वरूप ग्रह और तारे आदि का आविर्भाव और तिरोधान होता है। इसी के फलस्वरूप दिन और रात का परिवर्तन होता है। दुःख की वात है कि वराहमिहिर, व्रह्मगुप्त, भास्कर आदि ज्योतिर्विदों ने उनके इस मत को स्वीकार नहीं किया। आर्यभट के एक हजार वर्ष वाद यूरोप के प्रुशिया के प्रसिद्ध वैज्ञानिक कोपर्निकस (1473 - 1543) ने इस सिद्धान्त का ही प्रचार किया। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अपने देश का गौरव वढ़ाने के लिए और भारत को उसके प्राप्य सम्मान से वंचित करने के लिए कोपर्निकस के सिद्धान्त को नये आविष्कार के रूप में प्रचारित किया। हिन्दू ज्योतिर्विद्या में आर्यभट का एक और अवदान हैं परिवृत्त और उत्केन्द्रीय वृत्त के सहारे ग्रहगति की व्याख्या।

19 अप्रेल, 1975 ई० को रूस के उत्क्षेपण केन्द्र से भारत ने जो कृत्रिम उपग्रह भेजा था, उसका नाम भारत के इस प्राचीनतम् श्रेष्ठ गणितज्ञ के स्मरण में 'आर्यभट्ट' रखा गया। वाद में 953 ई० में द्वितीय आर्यभट नाम के अन्य एकज्योतिर्विद ने आर्य-सिद्धान्त' नाम के एस और ज्योतिषग्रंथ की रचना की। दक्षिण भारत में अभी इसी ग्रंथ के अनुसार पंचांग की गणना की जाती है।

विक्रमादित्य की सभा के नवरत्न में से एक वराहमिहिर मध्यभारत के अवन्तीनगर में रहते थे। 505 ई० के आसपास वे उज्जयिनी में थे।

587 ई० में उनका देहान्त हुआ था। उनका ज्ञान विश्व कोश की तरह व्यापक था। वे गणित, ज्योतिष, फलित ज्योतिष, मणिका विद्या, भूगोल, प्राणिविद्या आदि विविध विषयों में पारंगत थे और इन विषयों में उन्होंने ग्रंथादि की भी रचना की थी। ज्योतिष विषयक उनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ था—'पंचसिद्धान्तिका'। इस ग्रंथ में उन्होंने प्राचीन हिन्दुओं की ज्योतिष विषयक पाँच प्रधान ग्रंथों की आलोचना की थी। उन्हीं के कारण सिद्धान्त ज्योतिष के अंशों की रक्षा हो सकी। वराह का द्वितीय श्रेष्ठ ग्रंथ है—वृहत्संहिता'। फलित ज्योतिष इसका आलोच्य विषय है। मानव के ऊपर दुष्ट ग्रहों आदि के प्रभाव को काटने के लिए जिन मूल्यवान - मणिमुक्ता आदि का उपयोग किया जाता है उन सब के गुणागुण के संबंध में उन्होंने अनेक तथ्यों का उल्लेख किया है। किन्तु उनकी विद्या का वजन जितना था उसमें उतनी तीक्ष्णता नहीं थी। गणित ओर ज्योतिष में उनका कोई उल्लेखनीय अवदान नहीं है।

आर्यभट के पश्चात् गणित और ज्योतिष में ब्रह्म गुप्त ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया। उनका जन्म 598 ई० में हुआ था। वे गुर्जर राज्य की राजधानी भिल्लमल नामक स्थान के निवासी थे। उज्जयिनी उनकी विज्ञान साधना का केन्द्र था। मात्र 30 वर्ष की उम्र में उन्होंने विख्यात ग्रंथ 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' की रचना की थी। इसमें उन्होंने अपने गाणितिक. ज्योतिषीय आविष्कार को लिपिवद्ध किया था। उनके इस ग्रंथ की ख्याति विदेश में भी फैल गयी थी। फारसी और अरवी भाषाओं में भी इस ग्रंथ का अनुवाद हुआ था। गणित में उन्होंने अपनी मौलिकता का परिचय दिया था। उन्होंने प्रथम और द्वितीय मात्रा के निर्णय और अनिर्णय समीकरण समाधान के नियम का आविष्कार किया था।

अंग्रजी में जिसको Algebra कहा जाता है, भारतीय गणितविद उसको वीजगणित कहा करते थे। ब्रह्मगुप्त ने इसका नाम दिया था 'कुट्टक'। पृथुडक स्वामी (850 ई०) ने सर्वप्रथम वीजगणित शब्द का प्रयोग किया था। उन्होंने ही सवसे पहले पाटिगणित और वीजगणित के प्रभेद की ओर निर्देश किया। पाटिगणित में किसी ज्ञात संख्या का उपयोग किया जाता है जव कि वीजगणित में किसी अज्ञात संख्या का। प्रतीक के सहारे इन अज्ञात संख्याओं का उपयोग किया जाता है। वीजगणित की प्रयोजनीयता के वारे में ब्रह्मगुप्त ने अपने 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' में कहा है—"प्रायेण यतः प्रश्नाः कुट्टकाराद्दतेन शक्यन्ते।" अर्थात् कोई भी गणितज्ञ वीजगणित के सहारे विना किसी प्रश्न को हृदयंगम नहीं कर सकता। यूरोपीय गणित के मूल में है अरबी ग्रंथ और अरबी ग्रंथके मूल में ब्रह्मगुप्त की रचना।

ब्रह्मगुप्त ने वृत्तस्थ चतुर्भुज (inscribed quadrilateral) का क्षेत्रफल $\triangle$ के द्वारा निम्नलिखित सूत्र के सहारे प्रकाशित किया—

$\triangle = \sqrt{(S-a)(S-b)(S-c)(S-d)}$ जहाँ a, b, c, d, चतुर्भुज के चार वाहु ओर $2S = a+b+c+d$.

उन्होंने चतुर्भुज के कर्णद्वय m, n के सूत्र दिये

$$m = \sqrt{\frac{(ac+bd)(ab+cd)}{ad+bc}}, \qquad n = \sqrt{\frac{(ac+bd)(ad+bc)}{ab+cd}}$$

इसे 'ब्रह्मगुप्त की प्रतिज्ञा' कहते हैं।

वृत्तस्थ त्रिभूज के सूत्र $\frac{a}{\text{SinA}} = \frac{b}{\text{SinB}} = \frac{c}{\text{SinC}}$ के अनुरूप उन्होंने एक और

सूत्र का आविष्कार किया। उन्होंने द्विघात समीकरण के साधारण समाधान का निर्णय किया. यहाँ तक कि जब एक बीज ऋणात्मक (negative) हो तब भी। उनसे पूर्व ऋणात्मक राशि की कल्पना भी न थी। ऋणात्मक राशि की परिकल्पना को ब्रह्मगुप्त का एक महत्वपूर्ण आविष्कार माना जाता है। आपने बताया है कि धनात्मक (Positive) राशि को धनात्मक राशि द्वारा विभजित करने से अथवा ऋणात्मक राशि को ऋणात्मक राशिद्वारा विभाजित करने से नतीजा धनात्मक राशि ही होगी। पुनः धनात्मक राशि को ऋएात्मक राशि द्वारा अथवा ऋणात्मक राशि को धनात्मक राशि द्वारा विभाजित करने से नतीजा ऋणात्मक राशि ही होगी। आपने ही सर्वप्रथम शून्य की कल्पना एक, दो, तीन जैसी संख्या के रूप में की थी। ब्रह्मगुप्त ने ही सर्व प्रथम एक· मात्रा के Diaphantine के अनिर्णय समीकरण $an+by=c$ (a, b, c पूर्णसंख्या) के साधारण समाधान का निर्णय किया था, यहाँ a, b के ग. सा. गु. c को भी निःशेष में विभाजित करेगा, यदि=a, b परस्पर मौलिक होगा एवं $c=ah+bq$, तब समाधान होगा $x=p+mb$, $y=q-ma$, m कोई पूर्ण संख्या। यहाँ Diaphantine खुद इस समीकरण का एकमात्र निर्दिष्ट समाधान (Particular solution) दे सके थे।

10 वीं शती के अंतिम भाग में प्राचीन भारत के और एक गणितज्ञ श्रीधर का आविर्भाव हुआ। इन्होंने प्रसिद्ध ग्रंथ 'गणितसार' की रचना की थी। तीन सौ श्लोकों का यह संकलन ग्रंथ सामान्यतः 'त्रिशतिका' नाम से परिचित है। इस ग्रंथ में शून्य के तात्पर्य के विषय में आलोचना है। शून्य के योग, वियोग और गुणन के बारे में आपकी धारणा स्पष्ट थी। इन्होंने ही सर्वप्रथम बताया कि किसी संख्या के साथ शून्य का योग अथवा वियोग करने पर उसका परिणाम वह संख्या ही होगी। किसी संख्या से उस संख्या का वियोग करने पर उसका परिणाम शून्य होगा। किसी संख्या को शून्य द्वारा गुणन करने पर गुणफल शून्य होगा और शून्य को किसी संख्या ने गुणा करने पर उसका गुणफल भीं शून्य होगा। इस आलोचना में ध्यान देने की बात यह है कि शून्य को किसी राशि से विभाजित करने पर अथवा किसी राशि को शून्य द्वारा विभाजित करने पर क्या फल मिलेगा इसकी कोई आलोचना नहीं हुई है। श्रीधर ने द्विघात समीकरण $an^2+bn+c=0$ को 4a द्वारा गुणा करके इसका समाधान प्रस्तुत किया था.

$$n=\frac{-b+\sqrt{b^2-4ac}}{2a}$$

12 वीं शदी के पहले भाग में 1114 ई० में भारतीय गणित और ज्योतिर्विद्या में भास्कर का आविर्भाव मानों मध्याह्न गगन के सूर्य की दीप्ति की भ ति हुआ था। हिन्दू

गणितज्ञों में ये सर्वश्रेष्ठ थे। दाक्षिणात्य के पश्चिम घाट के सह्य पर्वत के निकट कर्नाट प्रदेश के अन्तर्गत वीजापुर में इनका निवास था। भास्कर ने अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'सिद्धान्त शिरोमणि' की रचना 36 वर्ष की उम्र में की थी। ये 70 वर्ष से अधिक काल तक जीवित थे। 'सिद्धान्त शिरोमणि' चार खण्डों में विभक्त है— 1. लीलावती, 2. वीजगणित 3. ग्रहगणिताध्याय 4. गोलाध्याय। पहला खण्ड पाटिगणित के बारे में है। इस खण्ड में ब्रह्मगुप्त और अन्यान्य गणितज्ञों के सूत्रों का संग्रह कर उन पर नयी दृष्टि से विचार किया गया है। प्रसिद्धि है कि लीलावती उनकी विदुषी कन्या थी। भास्कर स्वयं एक विख्यात ज्योतिषी थे और अपने मत पर उन्हें असीम विश्वास था। लग्न की गणना करके उन्होंने कन्या के विवाह का शुभ मुहूर्त और शुभदिन स्थिर किया था। विवाह के दिन उत्सुकतावश कन्या शुभमुहूर्त को देखने के लिए जलघड़ी के ऊपर झुक पड़ी थी। अन्जाने में उसके ललाट से गहने का एक मोती जलघड़ी के अन्दर गिर जाने से जल की धारा वन्द हो गयी। साथ ही घड़ी भी वन्द हो गयी। भास्कर को जब इस वात का पता चला तब तक शुभ मुहूर्त बीत गया था। पिता के गणना की ख्याति अक्षुण्ण रखने के लिए लीलावती ने आजीवन विवाह नहीं किया। दुखी कन्या की सान्त्वना के लिए भास्कर ने अपने ग्रंथ के पाटिगणित अंश का नाम कन्या के नाम से 'लीलावती' रखा।

वीजगणित की एक आलोचना में उन्होंने यह बताया कि किसी राशि को शून्य द्वारा विभाजित करने से भागफल असीम (infinity) होगा। उन्होंने यह भी कहा कि ऋणात्मक राशि को ऋणात्मक राशि द्वारा गुणा करनेपर धनात्मक राशि मिलेगी तथा ऋणात्मक एवं धनात्मक राशि का गुणफल सर्वदा ऋणात्मक ही होगा। उनके मतानुसार वृत्त का क्षेत्रफल परिसीमा और व्यास के गुणफल का एक वटा चार भाग होगा $\left(\frac{2\pi r \times 2r}{4} = \pi r^2 \right)$ और गोलक का घनफल=तलके क्षेत्रफल और व्यास के गुणफल का एक वटा छट भाग होगा। इस कार्य में उन्होंने तीन सौ चौरासी बाहु विशिष्ट सुषम बहुभुज को छोटे छोटे त्रिभुज में विभक्त करके गोलक के तल और घनफल का निर्णय किया। उनकी यह विद्या Integral Calculas की प्राथमिक अवधारणा का पूर्वाभास थी। उन्होंने काल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाग अर्थात एक सेकेंड के चौतीस हजारवें भाग के एक भाग अन्तर से ग्रहों के स्थानान्तर का निर्णय करके उसकी तात्कालिक गति (instantaneous motion) का निर्णय किया। यह पद्धति आधुनिक गणित के Differential Calculas का पूर्वाभास थी। यह सोच कर आश्चर्य-चकित होना होगा कि न्यूटन के पाँच सौ वर्ष पहले भास्कर इस प्रकार की जटिल अवधारणा





माखनलाल चतुर्वेदी : हिन्दी समाज, शान्तिनिकेतन।

[पुस्तक-प्रकाशक और विक्रेता] जबलपुर

सुभद्राकुमारी चौहान की नवीन कहानियों का संग्रह हमारे यहां से "उन्मादिनी तथा अन्य कहानियाँ" के नाम से १९३४ में प्रकाशित हुआ है।] ३६ राइट टाउन

जबलपुर

25.3.36

श्री हजारीप्रसाद जी वन्दे

आपका कृपा-पत्र पाकर बहुत प्रसन्नता हुई। विश्वभारती के उत्सव में शान्तिनिकेतन के दर्शन का अवसर पाकर मैं अपने को गौरवान्वित समझती पर मैं इस अवसर का लाभ उठाने से वंचित हूं। अभी मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं है और शीघ्र अच्छा होने की आशा नहीं है। यदि 13-14 अप्रैल तक अच्छा हो जाऊँगी तो इच्छा है कि मैं [illegible] में अपने आने की सूचना आपको अवश्य दूंगी।

भवदीय

सुभद्राकुमारी चौहान

सुभद्रा कुमारी चौहान : हजारी प्रसाद द्विवेदी।

का आभास दे सके थे। भास्कर ने यह दिखाया कि एक वृत्त का व्यास और परिधि d, p और उसका एक चाप (arc) तथा ज्या (chord) a और c होने पर—

$$c = \frac{4ad(p-a)}{\frac{5}{4p^2} - a(p-a)}$$

'सिद्धान्त शिरोमणि' के गोलाध्याय अंश में पृथ्वी के गोलत्व और माध्याकर्षण शक्ति का वर्णन है। सूर्य, चन्द्र गोलाकार हैं, यह देखकर प्राचीन वैज्ञानिकों ने अनुमान किया था कि पृथ्वी भी गोलाकार है। फिर इसका उपरी तल ऐसा समतल क्यों प्रतीत होता है। उस सुदूर अतीत काल में हीं भास्कराचार्य नें इस संवंध में कहा था कि वृत्त की परिधि का सौवाँ भाग (क्षुद्रांश) समान प्रतीत होता है, वक्र नहीं प्रतीत होता, उसी तरह पृथ्वी अति वृहत् गोलाकार और तुलना में मानव अतिशय क्षुद्र होने के कारण पृथ्वी का जितना अंश एक ही समय में दिखाई पड़ता है उतना अंश समान प्रतीत होता है। भास्कराचार्य ने पृथ्वी का व्यासार्ध 7182 मील बताया था। आज के हिसाव से यह 7926 मील है।

भास्कर ने एकमात्रा का $an+by=c$, इस समीकरण की सभी साधारण पूर्णसंख्याओं का समाधान प्रस्तुत किया था (all integer solution), उन्होंने द्वितीयमात्रा के अनिर्णेय समीकरण $An^2+c^2=y^2$ का कुछ lemma या उपप्रतिज्ञा के सहारे समाधान प्रस्तुत किया था। जैसे, $n=a$, $y=b$ होनेपर $An^2+c^2=y^2$ समीकरण का समाधान होगा $n=2ab$, $y=b^2+Aa^2$। अटठारह वीं शताव्दी में अयलार (1764) और ला ग्राँज (1768) ने इन उपप्रतिज्ञाओं के नये रूप आविष्कृत किये।

अनिर्णेय द्विमात्रिक समीकरण $n^2 = 1 + py^2$ के समाधान में भास्कर ने ही सवसे अधिक कृतित्व दिखाया था। उन्होंने p के पाँच मानों 8, 11, 32, 61, 67 के लिए निर्दिष्ट समाधान प्रस्तुत किये थे। गणना में यह उनकी अद्भुत दक्षता का प्रमाण है। वे ही मध्ययुगीन भारत के अन्तिम उल्लेखनीय गणितज्ञ थे। इसके वाद ही वेदोत्तर भारत के गौरवोज्ज्वल इतिहास का समापन हुआ। यह हमलोगों का दुर्भाग्य है कि भारतीय गणितज्ञों ने संख्यातत्व और अनिर्णेय समीकरण के समाधान पर अधिक शक्ति व्ययित की। क्योंकि इन दोंनों विषयों से गणित की विशेष अग्रगति सम्भव नहीं थी। गणित के इतिहास में भास्कराचार्य के अवदान को ध्यान में रख कर

ही 7 जून 1979 को रूस के उत्क्षेपण केन्द्र से छोड़े गये प्रथम भारतीय पार्थिव सम्पद पर्यवेक्षक कृत्रिम उपग्रह का नाम 'भास्कर' रखा गया था।

त्रिकोणमिति का Sine सारणी (table) प्रस्तुत करना भास्कर की गाणितिक प्रतिभा का एक और उदाहरण है। प्राचीन 'सिद्धान्त ज्योतिष' में 3°45′ (या 225′) अन्तर 0° से 10° के अन्दर 24 विभिन्न कोणों का Sine कोणानुपात निर्णीत दिखाई पड़ता है। भास्कर ने और भी क्षुद्र कोणों के Sine—Cosine कोणाणुपात निर्णय किया था। जैसे,

$$\text{Sine } 1^\circ = \frac{10}{573}$$

$$\text{Cosine } 1^\circ = \frac{6565}{6569}$$

मध्ययुगीन भारत के इन सब परिचित-अपरिचित ज्ञानी-विज्ञानी, शिल्पी, साधकों के कृतित्व को देखकर हमें यह कहने की इच्छा होती है कि,

"तुम्हें देखकर हमारे विस्मय की सीमा नहीं है।"

—"द वंडर दैट वाज इण्डिया" ।

—o—

संदर्भ ग्रंथ :

1) A History of Mathematics
—C. B. Boyer & U. Merzback.
—John Wiley and Sons (1989 edition)

2) महाकाश विज्ञान
—डॉ० अरुण कुमार सेन और अजय कुमार देवगुप्त
—विज्ञान और तथ्यकेन्द्र, कलकत्ता—9 (1984 edition)

3) आकाश ओ पृथिवी।
—मृत्युंजय प्रसाद गुह
इंडियन एसोसियेटेड पब्लिशिंग क० प्रा. लि., कलकत्ता—9 (1972 edition)

4) विज्ञानेर इतिहास
—समरेन्द्र नाथ सेन
—शैव्या प्रकाशन (1994 edition)

5) The wonder that was India
—A. L. Bashom
Rupa and Co. (1986 edition)

6) आकाशेर कथा
—शंकर चक्रवर्ती। जिज्ञासा, कलकत्ता—29.

7) भारतवर्षेर इतिहास।
प्रगति प्रकाशन, मास्को।

8) शिशुदेर विश्वकोश। संपा० क्षितीन्द्र नारायण भट्टाचार्य और पूर्णचन्द्र चक्रवर्ती, मॉडर्न बुक एजेन्सी, कलकत्त—73

9) आधुनिक विज्ञानेर क्रमविकाश
—संपा० सुशान्त मजुमदार और अन्य।
अनुष्टुप, कलकत्ता—9

10) इतिहासे विज्ञान
—जे. डी. वार्णाल, विज्ञान चेतना।

11) भारतकोष—वंगीय साहित्य परिषद।

—o—

रामकथा की व्यापकता एवं विविधता

राजेन्द्र मिश्र

आधुनिक विद्वज्जनों ने विश्वस्तरीय तीन कथानकों को सर्वाधिक प्रभावशाली माना है। वे हैं—रामकथा, सीज़र तथा क्लियोपेट्रा की कथा एवं रुस्तम-सोहराब की कथा। इन कथाओं का उद्भवस्थल क्रमशः भारतवर्ष, रोम-मिस्र तथा फारस (पर्शिया, वर्तमान ईरान) रहे हैं। परन्तु व्यापकता, विविधता तथा प्रभविष्णुता की दृष्टि से इन तीनों विश्वस्तरीय कथाओं में भी 'रामकथा' प्रत्येक दृष्टि से सर्वोपरि सिद्ध होती है।

व्यापकता अथवा विस्तार की दृष्टि से रामकथा ने विश्व-मानचित्र के प्रायः दो तिहाई भूभाग को आत्मसात् कर रखा है। प्राचीन मिस्र, रोम तथा एशिया माइनर से लेकर वियतनाम (चम्पा) कम्बोडिया (कम्बुज) तथा सुवर्णद्वीप (इण्डोनेशिया) तक का क्षेत्र आज भी यथाकथञ्चित् रामायण संस्कृति से प्रभावित है। रामकथा के इस कालजयी महाप्रभाव को देख कर ही श्रीपेराला रत्नम् जी ने, जो कि अमरीका, चीन, लाओस तथा इण्डोनेशिया में भारत के राजदूत रहे, प्रथम प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू के समक्ष Ramayana Commonwealth की संस्थापना का प्रस्ताव रखा था। श्री रत्नम् का विश्वास था कि ब्रीतानी शासन से जुड़े राष्ट्रों की संस्था British Commonwealth की ही तरह रामायण-संस्कृति से जुड़े राष्ट्रों की यह संस्था उनके पारस्परिक हितों की रक्षा करने तथा राजनयिक सम्वन्धों को सुदृढ़ बनाने में समर्थ होगी। परन्तु राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रप्रेम को 'फैशन' के स्तर पर जीने वाले तथा एक सीमा तक नास्तिक मनोवृत्ति के पोषक पं० नेहरू को श्री रत्नम् का यह प्रस्ताव अटपटा लगा। काश, यही प्रस्ताव महामहिम सरदार वल्लभ भाई पटेल के समक्ष उपन्यस्त हुआ होता तो Ramayana Commonwealth संयुक्त राष्ट्रसंघ से भी कहीं अधिक तेजोदीप्त, सर्वमान्य संगठन बन जाता और विश्वस्तर पर रामराज्य की संस्थापना की संभावना निश्चय ही वढ़ जाती।

भारतीय कालगणना के मानदण्ड अत्यन्त विज्ञानसम्मत एवं सुस्थिर हैं। यह वात और है कि सहस्राब्दियों की दासता ने हमारे ज्ञान, विज्ञान को हमारी अनन्यत्रोपलब्ध विविध उपलब्धियों को या तो 'अमान्य' सिद्ध कर दिया है अपनी थोथी मान्यताओं से या फिर उन्हें विवादस्पद वना दिया है। उससे भी वड़ा दुर्भाग्य यह है कि निरंकुश

तथा सर्वतंत्र-स्वतंत्र होते हुए भी हम आज भी बौद्धिक दासता का कंचुक ओढ़े हुए, मूर्खों की तरह रटाया गया वाक्य दुहरा रहे हैं कि रामायण-संस्कृति मात्र २४०० वर्ष ईसापूर्व की है। हड़प्पा के अवशेषों में रामायण-संस्कृति का कोई प्रमाण नहीं मिलता (फलतः उसका अस्तित्व संन्दिग्ध है)। महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास के विषय में अभी भी हम मैकडानेल की ही युक्ति दुहरा रहे हैं—He was a legendary personality. He was only the reteller of tales.

वस्तुतः यही समुचित अवसर है कि भारत की तर्कसम्मत, विज्ञानसम्मत एवं तपस्सिद्ध उपलब्धियों, परम्पराओं की नये सिरे से प्रतिष्ठा की जानी चाहिये तथा विदेशी विद्वानों की एकांगी, निर्मूल, दुर्भावनाग्रस्त तथा भ्रान्त धारणाओं को सदा-सदा के लिये भारतीय वाङ्मय एवं जनमानस से बहिष्कृत कर देना चाहिये। भारत की स्वतंत्रता तभी सार्थक सिद्ध होगी अन्यथा कहने को हम तो स्वतंत्र हैं परन्तु हमारा साहित्य, हमारा धर्म, हमारी संस्कृति-तीनों आज भी पराधीन हैं। बिना ईस्वी सन् की लक्ष्मणरेखा को तिरस्कृत किये हम भारत के गौरवमय अतीत के साथ न्याय नहीं कर पायेंगें।

भारतीय परम्परा के अनुसार मर्यादा पुरुषोत्तम राम २४ वें त्रेतायुग में अवतीर्ण हुए। इसके पोषक प्रमाण हमें वायु, ब्रह्माण्ड, हरिवंश पुराण में तथा महाभारत में उप-लब्ध होते हैं—

त्रेतायुगे चतुर्विंशे रावणस्तपसः क्षयात्।
रामं दाशरथिं प्राप्य सगणः क्षयमेयिवान्॥
—वायु० ७०.४८

चतुर्विंशे युगे वत्स। त्रेतायां रघुवंशजः।
रामो नाम भविष्यामि चतुर्व्यूहस्सनातनः॥
—ब्रह्माण्ड० २. ३. ३६. ३०

चतुर्विंशे युगे चापि विश्वामित्रपुरस्सरः।
लोके राम इति ख्यातस्तेजसा भास्करोपमः॥
—हरिवंश० २२. २. ४६

सन्धौ तु समनुप्राप्ते त्रेताया द्वापरस्य च।
रामो दाशरथिर्भूत्वा भविष्यामि जगत्पतिः॥
—महा० शान्ति९ ३४८. १९

पौराणिक कालगणना-परम्परानुसार ४३२०००० (तैंतालीस लाख बीस हजार) वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। इस चतुर्युगी को ही पुनः संक्षिप्त करने के उद्देश्य से कृत युग (१७२८००० वर्ष) त्रेता (१२९६००० वर्ष) तथा द्वापर (८६४००० वर्ष) मात्र के वर्षों को जोड़ कर पुराणों में एक 'पर्याययुग अथवा परिवर्तयुग' की कल्पना की गई है जो ३८८८००० वर्षों का होता है। इस दृष्टि से २४वें त्रेतायुग में श्रीराम का अवतरण स्वीकार करने का अर्थ है उन्हें मनुसंवत् १०, २३, ८३३०० से १०, २३,८४३०० वर्ष के बीच में अवस्थित मानना। मनुसंवत् का अर्थ है तेईस पर्याययुगों की तथा चौबीसवें कृतयुग एवं त्रेतायुग की समन्वित कालावधि। इसी कालावधि में अर्थात् २४वें पर्याय-युग में त्रेता के अन्तिम सातसौ तथा द्वापर के प्रारंभिक तीन सौ वर्षों में राम इस धराधाम पर विराजमान रहे। उनका जीवन एक सहस्र वर्ष का था, न कि ग्यारह सहस्र वर्षों का, जेसा कि कालगणना का रहस्य ठीक से न समझ पाने के कारण लोग मानते हैं। इस सन्दर्भ में श्रीचन्द्रकान्त बाली का शोधालेख पढ़ने योग्य है। (१)

ईस्वी सन् की मानसिकता से व्यामोहित भारतीयों को रामावतरण की यह तिथि 'कोरी गप्प' ही प्रतीत होगी। वस्तुतः इस तथ्य को आत्मसात् करने के लिये प्रभूत श्रद्धा एवं गहरी निष्ठा की आवश्यकता है। सम्प्रति २८ वें कलियुग के ५०५७ वर्ष बीत रहे हैं। इस दृष्टि से मर्यादापुरुषोत्तम राम आज से १४५५६७५७ (एक करोड़ पैंतालीस लाख छप्पन हजार सात सौ सत्तावन) वर्ष पूर्व भारतभूमि पर विद्यमान थे।

वहरहाल, आधुनिक इतिहासकारों को यदि राम की यह जीवनतिथि उपहासास्पद भी प्रतीत होती हो तो उनकी प्राचीनता में तिलमात्र सन्देह नहीं किया जा सकता है। सौभाग्यवश प्राचीन मिस्र के राजवंशों का शिलोत्कीर्ण इतिहास, ईसा से ५७०२ वर्ष पूर्व प्राचीन आज भी सुरक्षित है। इतिहासकार वोकह के अनुसार मिस्र के प्रथम शासक मन (ग्रीक मेनस्) ने ई० पू० ५७०२ वर्ष में वहाँ राज्य किया। अन्य ऐतिह्यविद्‌ यह तिथि ई० पू० ५६१३ वर्ष मानते हैं। (२) मन अथवा मनु के अनन्तर १८ वंशों के नरपतियों ने मिस्र में शासन किया। ये सभी शासक स्वयं को 'र' अथवा सूर्य कहते थे। स नफर नामक सम्राट् ने 'नवमत' (नमोमत्) उपाधि धारण की। परवर्ती राजाओं

---

१. श्रीमद्भगवतो रामभद्रस्य कियान् शासनकालः ?
सद्भमनी २६ / १ अंक, १९९७ ई०। दारागंज इलाहाबाद।

२. History of Ancient Egipt by George Robinson, 1881.

में खुफू, शफर (क्षिप्र) नवम् अखत (नभम् अक्षत) मनकर, खनमहातप, नफर, रणअसर, मनकहर, नतराकृत (नेत्रकृत सम्राज्ञी) अनन्तफ, मन्तःतफ तथा शंखकर आदि हुए।

शंखकर ने अपने सेवक हनु को 'पनत' देश से बहुमूल्य वस्तुओं को लाने के लिये भेजा। हनु ईरान के मार्ग से 'पनत' अर्थात् भारत तक आया। उसका रोचक यात्रावृत्त प्राचीन मिस्रभाषा में उत्कीर्ण है। १८ वें वंश के राजा अहमस् ने नवपति रे अर्थात् नभस्पति सूर्य की उपाधि धारण की। इस वंश का अन्तिम दौर ई० पू० १४०० वर्ष तक व्याप्त रहा जब कि सम्राट् अमन होतप ने बहुदेववाद को छोड़ कर सर्वदेवमय सूर्य की उपासना प्रचलित की तथा यज्ञपरम्परा स्थापित की। सूर्य की स्तुति के भावभीने मंत्र इसी समय लिखे गये जिन्हें पढ़ने में सवितृसूक्त जैसा ही आनन्द मिलता है— हे जीवनदाता सूर्य। तुम्हारा सान्ध्यकाल कितना सुन्दर है। जब तुम अस्ताचल का संस्पर्श करते हो तो सम्पूर्ण चराचर जगत् तुम्हारा रूप देख कर उस परमेश्वर की वन्दना करता है जिसने उसे सिरजा है॥

नत्रु इ सनुइन त्याउआसा ससु
पुआ ओ आरफ हरुपन श्वन्तत पुऊन।
अरि बुनफर अरुअन् आंखियु
वबु वातु आवु वस अस आन् सुतन
ओम ओषान रपिन्तु आतन्॥

—डिक्रि ऑफ अनोपस, १९०४।

सम्राट् अमन होतप ने 'अख़नतन' (सूर्यप्रकाश) उपाधि धारण की तथा कर्नाक में अतन देवता (सूर्य) का विशाल मन्दिर बनवाया।

ई० पू० ११०० वर्ष में मिस्र का सम्राट् था हरिहर जो कि सम्राट् रामससु (त्रयोदश) का अन्तरंग था। सस का अर्थ है चन्द्र। वस्तुतः यह 'शशि' शब्द का ही मिस्रभाषान्तर है। इस प्रकार रामशशी का अर्थ है रामचन्द्र। मिस्र की शासन-परम्परा में रामचन्द्र नामक तेरह सम्राट् हुए जिनमें प्रथम रामचन्द्र का समय ई० पू० १४०० वर्ष माना जाता है। इसने 'रमापति' की उपाधि धारण की थी।

The Splendour that was Egipt नामक ग्रंथ में सम्राट् रामससु तृतीय को हल जोतते हुए चित्रित किया गया है। रामचन्द्र की ही तरह सम्राट् दशरथ के कथानक मिस्र के तेल-अल-अमर्णा (सम्राट अखनतन की प्राचीन राजधानी) नगर तथा तुर्की के बोगाज़ कोई से प्राप्त दस्तावेजों में उपलब्ध हैं। १४०० वर्ष ई० पूर्व में मितानी

सम्राट् दशरथ एवं मिस्र के शासक अमन होतप तृतीय के बीच हुआ पत्रव्यवहार मिस्र पर भारतीय ऐतिह्य के प्रत्यक्ष प्रभाव का साक्षी है।

उपर्युक्त विवरण आपाततः अनपेक्षित भले प्रतीत होता हो, परन्तु इसे उद्धृत करने का मेरा एकमात्र उद्देश्य यही है कि ई० पूर्व १४०० से ११०० वर्ष के बीच मिस्र में तेरह रामचन्द्र राज्यासीन हुए। इतना ही नहीं प्रत्युत मध्यएशिया के आर्यवंशीय मितानी राजवंश में भी सम्राट् दशरथ हुए। इसका सुस्पष्ट निर्गलितार्थ यही है कि ईसा से प्रायः डेढ़ हजार वर्ष पूर्व ही रामकथा मिस्र के जन-मानस में व्याप्त हो चुकी थी। रामचन्द्र नाम की इस लोकप्रियता से यह भी ध्वनित होता है कि भारतभूमि में अवतीर्ण मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का प्रजाराधक पावन चरित सम्पूर्ण पश्चिम एवं मध्य एशिया में स्पृहणीय बन गया था।

रामकथा की व्यापकता का यह था पश्चिमी छोर। सुदूरपूर्व में भी रामकथा ईसा की प्रारंभिक शतियों में ही प्रतिष्ठित हुई। वृहत्तर भारत-विषयक विस्तृत जानकारी हमें मुख्यतः चार स्रोतों से प्राप्त होती है— भारतीय, चीनी, यूनानी तथा अरबी स्रोत। पुराणवाङ्मय, रामायण-महाभारत, वृहत्कथा के परवर्ती संस्करण, महावंश, लंकावतार तथा वसुदेवहिण्डि जैसे ग्रंथों में प्रशान्तमहासागरीय द्वीपों का रोचक विवरण प्राप्त होता है। इसी प्रकार चीन के मिगवंशीय इतिहास में तथा टालमी' प्लिनी (Periplus of the Erithrian Sea) एवं सम्राट् क्लाडियस (४१-५४ ई० पू०) के समकालीन इतिहासकार पाम्पिनस दि मेला आदि के भी क्रिसे (Chrise या सुवर्णद्वीप) सम्बन्धी विवरणों में प्रभूत सामग्री मिलती है। महाराज भोज के शासनकाल में भारत आये अरबी यात्री अलबरूनी तथा याकूत, हरकी, सीराज़ी एवं सहरयार ने भी 'जाबुज' (श्रीविजय ?) के विषय में भरपूर लिखा है।

चम्पा (वर्तमान वियतनाम) में सम्राट् श्रीमार ने, फूनान अथवा कम्बुज में कौण्डिन्य प्रथम ने तथा यवद्वीप (जावा) में सम्राट् पूर्णवर्मा ने ईसा की प्रारंभिक शती में ही भारतीय उपनिवेश की स्थापना की, यह एक प्रामाणिक तथ्य है। ये भारतीय उपनिवेश चाहे शैवमत के पोषक रहे हो, चाहे वैष्णव मत के या फिर सौगत-मत के ही। रामकथा इन सबकी मूल आधारशिला थी। जावा तथा बाली द्वीप की रामकथा रामायण ककविन्, मलेशिया (कयह द्वीप) की रामकथा 'हिकायत महाराज राम', थाईलेण्ड की रामकथा 'रामकियेन्', लाओस की रामकथा 'फॉ लॉक-फॉ लॉम' (प्रिय लक्ष्मण-प्रिय राम) तथा सिंहल द्वीप की रामकथा 'रामकेत्ति' की कालजयी सर्जना ने

उन राष्ट्रों की शासनसत्ता एवं संस्कृति को एक ऐसा सम्वल प्रदान किया जो तव से लेकर आज तक अक्षुण्ण है।

सुखोदय तथा द्वारावती के अनन्तर जिस 'अयोध्या' नामक साम्राज्य की स्थापना दक्षिणी श्याम में हुई थी वह आज भी थाई राजतंत्र के रूप में अपनी गरिमा को अक्षत वनाये है। 'अयुध्या' के प्रति थाईवासियों की आज भी अपार आस्था एवं श्रद्धा है। थाई नरेश आज भी स्वयं को 'राम' कहने में गौरव का अनुभव करते हैं। इस प्रकार 'रामायण-संस्कृति' थाई राष्ट्रीय परिवेश में सर्वथा जीवन्त है।

यवद्वीप में महाकवि योगीश्वर ने रामायण ककविन् की रचना मतरामवंशी नरेश चतुकुर वलितुंग के शासनकाल में, नवीं शती ई० के अन्तिम चरण में की। इस विलक्षण कृति में २६ सर्ग तथा २७७८ श्लोक कविभाषा में लिखे गये हैं। कविभाषा स्थानीय मलय एवं संस्कृत का सम्मिश्रण है। कवि योगीश्वर ने मालिनी, उपजाति, स्रग्धरा, सुवदना, वसन्ततिलका आदि संस्कृत छन्दों का ही प्रयोग किया है तथा पदे-पदे प्रकरणवक्ताओं का समावेश किया है, जो निश्चय ही मनोमुग्धकारी हैं।

रामायणककविन् में वर्णित रामकथा का ही शिल्पाङ्कन मध्यजावा के जगत्प्रसिद्ध वौद्ध स्तूप चण्डी वोरोवुडुर तथा प्राम्वनान के त्रिदेवमन्दिरों की दीवारों पर किया गया है। प्राम्वनान के शिवमन्दिर की भित्तियों पर ४२ फलकों पर रामकथा की प्रारंभ से सागरातिक्रमण तक की घटनाएँ महाशिल्पी गुणधर्म द्वारा महाराज दक्षोत्तम (९०३-९८ई०) के संरक्षण में उत्कीर्ण की गईं। वोरोवुडुर का रामकथाङ्कन (७८०ई०) मुख्यत: दशरथ-जातक के आधार पर किया गया है। मजपहितवंशी चक्रवर्ती जावानरेश राजसनगर (१३५०-८९ई०) ने भी पूर्वी जावा में निर्मित पन्तरण अथवा पलह के शिवमन्दिर (शिलान्यास १३४६ ई०) की दीवारों पर एक वार पुनः रामकथा का अंकन कराया। दुर्भाग्यवश इस महान् देवालय की कुछ ही दीवारें अव शेष वचीं हैं, जिनमें लंकास्थित हनूमान तथा कुम्भकर्ण के कुछ रूप उत्कीर्ण हैं।

लाओस की रामकथा 'फालॉक-फालाम' (प्रिय लक्ष्मण-प्रिय राम) के भी दो रूप हैं— वाङ्मय रूप तथा शिल्पात्मक रूप। सारी रामकथा को लाओस के प्राचीन राज-महल की दीवारों पर उत्कीर्ण कर दिया गया है। इसी प्रकार कटाहद्वीप (वर्तमान मलेशिया) तथा कम्वुज में भी रामकथा का भरपूर प्रचार-प्रसार है।

वालीद्वीप वासी आज भी विश्वास करते हैं कि उनके द्वीप का नामकरण वानरराज वाली के नाम पर आधारित है जो कि त्रेतायुग में देवराज इन्द्र के अंश से उत्पन्न हुआ था। (३) सूग्रीव से वैर होने पर वाली इन प्रशान्तमहासागरीय द्वीपों में उसे खोजता फिरा था। उसके बल का प्रमाण यही था कि वह पर्वतशिखरों को हवा में उछाल कर उन्हें हथेली पर थाम लेता था। वाली सूर्योदय से पूर्व ही दक्षिण समुद्र से उत्तर तक तथा पूर्व समुद्र से पश्चिम तक घूम आता था। (४) यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि समूचे इण्डोनेशियाई द्वीपों में (संख्या १३६७७ द्वीप) में मात्र वाली में ही भयावह आकृति के असंख्य वानर हैं। वाली प्रान्त के शासन द्वारा संरक्षित सांगेह आदि 'वानरवनों' (Monkey forests) को देखने के लिये पर्यटकों की भारी भीड़ प्रतिदिन जमा होती है।

मध्यजावा के प्राचीन नगर योग्यकर्ता से प्रायः सत्रह कि० मी० दूर पूर्वदक्षिण दिशा में 'किंष्किन्धा' (Kiskindha Cave) है जो चूने के सफेद पत्थरों (Lime stones) से भरी हुई हैं।

वस्तुतः सुदूर पूर्व-स्थित ये समस्त द्वीप रामकथामय हैं। रामकथा इन द्वीपों में काव्य, नाट्य प्रस्तुति (वायांग) स्थापत्य, आलेख्य (architecture and Paintings) वस्त्राभूषण (वाटिक आदि) तथा काष्ठकला के रूप में आज भी, भारत से भी कहीं अधिक जीवन्त तथा प्रभावी है। वर्त्तमान इण्डोनेशिया, यद्यपि मुस्लिममतानुयायी है— तथापि उसने अपनी प्राचीन रामायण-महाभारत-संस्कृति को जीवित रखा है। रामकथा का मञ्चन इनका राष्ट्रीय पर्व है। शासन की ओर से प्रतिवर्ष निश्चित कार्यक्रमानुसार यह रामलीला प्राम्बनान के शिवमन्दिर-प्रांगण में तथा सोलो नगर में निरन्तर दो महीने अभिनीत की जाती है। इस्लामी प्रत्यभिज्ञान के बावजूद भी, इण्डोनेशियावासियों

---

३. वानरेन्द्रं महेन्द्राभमिन्द्रो वालिनमात्मजम्
सुग्रीवं जनयामास तपनस्तपतां वटः ॥ रामा० बाल० २७.२०

४. समुद्रात्पश्चिमात्पूर्वं दक्षिणादपि चोत्तरम्।
कामत्यनुदिते सूर्ये वाली व्यपगतक्लमः ॥
अग्राण्यारुह्य शैलानां शिखराणि महानयपि।
ऊर्ध्वमुत्पात्य तरसा प्रतिगृह्णाति वीर्यवान् ॥ रामा० किष्किन्धा० ११.४.५

को अपने अतीत 'हिन्दुत्व' का अभिमान है और वे बड़ी निष्ठा के साथ कहते भी हैं— We have changed our caps, but not our hearts (हमने अपनी टोपियाँ भर वदली हैं, हृदय नहीं।) रामकथा में उल्लिखित पात्र, स्थान, नदी, पर्वत एवं अन्यान्य उपादान तो सम्पूर्ण वृहत्तर भारत-क्षेत्र में आज भी उपलब्ध हैं। सरयू, अयोध्या' किष्किन्धा, सीता, राम आदि सभी उनके जनजीवन में व्याप्त हैं।

रामकथा की व्यापकता के उपर्युक्त प्रमाण किसी न किस रूप में आज भी सुरक्षित हैं, फलतः उन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि हम प्रकीर्ण अथवा गौण स्रोतों को भी रामकथा की व्यापकता का प्रमाण मानें तो निस्सन्देह हमें मंगोलिया तथा अनेक यूरोपीय राष्ट्रों में भी रामयण-संस्कृति का वर्चस्व स्वीकार करना पड़ेगा। ब्रह्मलीन स्वामी करपात्री-प्रणीत रामायणमीमांसा तथा फादर कामिल बुल्के के शोधप्रवन्ध 'रामकथा' में इस आशय के पुष्कल प्रमाण संकलित हैं। प्रस्तुत आलेख में मैं पुनरावृत्ति-भय से, मात्र नवीन तथ्यों की ही समीक्षा कर रहा हूँ।

इस आलेख का दूसरा पक्ष है— रामकथा की विविधता। इस विविधता के दो प्रमुख कारण हैं— धार्मिक (साम्प्रदायिक) एवं साहित्यिक। रामकथां का उद्गमविन्दु है— प्राचेतस महर्षि वाल्मीकि-प्रणीत पौलस्त्यवध काव्य, जिसे संसार 'वाल्मीकीय रामायण' के रूप में जानता है। महर्षि वाल्मीकि सनातन वैदिक आर्यधर्म के व्यवस्थापक एवं समर्थक हैं। वैदिक धर्म की अपनी विशिष्ट मान्यताएँ तथा आस्थायें हैं। परन्तु कालान्तर में विकसित वौद्ध एवं जैनमत' वैदिक धर्म के विसंवादी वन कर प्रतिष्ठित हुए। इन मतों की अपनी विशिष्ट मान्यताएँ थीं। लोक, परलोक, जीवन-मृत्यु, वन्धन-मुक्ति, ईश्वर-जीव, अवतार, तत्त्वमीमांसा तथा आचरणसंहिता- सामाजिक व्यवस्था आदि के विषय में ये मत, वैदिक धर्म से उत्तरोत्तर पृथक् होते गये। फलतः राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक स्तर पर इन तीनों मतों का त्रिकोण-संघर्ष गौतमबुद्ध एवं भगवान् महावीर के युग से राजपूत युग तक चलता रहा।

रामकथा भी इस संघर्ष से प्रभावित हुई। उपर्युक्त धार्मिक मतभेद के ही कारण तथागतोत्तर रामकथा तीन रूपों में अग्रसर हुई-वैदिकपरम्परा-सम्मत, बौद्धपरम्परा-सम्मत तथा आर्हतपरम्परा-सम्मत। यदि वाल्मीकीय रामायण की रामकथा 'प्रकृति' थी तो अन्य दो परम्पराओं की रामकथाएँ उसकी 'विकृति' थीं। वैदिक परम्परा के राम साक्षात् परमेश्वरावतार हैं, मर्यादापुरुषोत्तम हैं। उनके लोकोत्तर चरित में विसंगतियों

का प्रतिभास भले हो, परन्तु पारमार्थिक स्तर पर वह पूर्ण संगत एवं समञ्जस हैं। उनका प्रत्येक आचरण मर्यादा के निकष पर खरा उतरता है।

वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त अध्यात्मरामायण, योगवासिष्ठ, भुशुण्डिरामायण, पुराण एवं महाभारत वर्णित रामकथाएँ, रघुवंश-रामचरित-जानकी-हरण-सेतुबन्ध,-भट्टिकाव्य (रावणवध) सीताचरित-जानकीजीवन- सीतारामविहार-काव्य आदि संस्कृत महाकाव्य वैदिकपरम्परा की रामकथा का अनुमोदन करती हैं। इसी प्रकार अभिषेकनाटक, प्रतिमा-नाटक (भासप्रणीत), महावीरचरित, उत्तरामचरित (भवभूति), अनर्घराघव (मुरारि), बालरामायण (राजशेखर), कुन्दमाला (दिङ्नाग), प्रसन्नराघव (जयदेव), आश्चर्यचूडामणि (शक्तिभद्र), अद्भुतदर्पण (महादेव), आदि संस्कृत नाटक, भोज-प्रणीत रामायण-चम्पू, क्षेमेन्द्रप्रणीत रामायणमञ्जरी तथा अनेक रामकथापरक लघुकाव्य (रामभद्रदीक्षित आदि की कृतियाँ) उपर्युक्त परम्परा का ही समर्थन करती हैं। ये सभी कृतियाँ-वाल्मीकिसम्मत रामकथा को ही पल्लवित करती हैं छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ जिनकी विशद चर्चा हम आगे करेंगे।

सौगत एवं आर्हत परम्परा के राम 'परमेश्वरावतार' नहीं हैं। इन मतों में जब ईश्वर की ही प्रतिष्ठा नहीं तो फिर 'ईश्वरावतार' होने का प्रश्न ही कहाँ? इतना ही नहीं, बौद्ध एवं जैन परम्परा के राम 'मर्यादापुरुषोत्तम' भी नहीं हैं। इन मतों में उनका 'चरित' भी संगत एवं समञ्जस नहीं दीखता। वैदिक परम्परा के एकपत्नीव्रतधारी राम को इन परम्पराओं के रामकथाकारों ने हजारों रमणियों के भोग में आसक्त प्रदर्शित किया। इन परम्पराओं के राम अपनी बहन सीता से ही विवाह करते हैं (दशरथजातक) सती-साध्वी, अग्निपरीक्षिता तथा गर्भवती निर्दोष पत्नी को निर्वासित करते हैं (भद्रबाहु प्रणीत आदिपुराण) निर्दोष शम्बूक (मूलतः शूर्पणखा / चन्द्रनखा का पति विद्युज्जिह्व) का वध करते हैं। पउमचरिउ का रचनाकार स्वयम्भू तो पापभार से बोझिल राम को 'नरक-गामी' चित्रित करता है तथा परम पवित्र, सत्कर्मपरायण लक्ष्मण को अर्हत् पद पर प्रतिष्ठित।

आखिर यह सब क्यों हुआ? इस प्रश्न का समाधान मैंने अपने अनेक शोधनिबन्धों तथा संस्कृत महाकाव्य 'जानकीजीवनम्' में प्रस्तुत किया है। परन्तु शोधपत्र में समाहित चिंतन का दायित्व विद्वान् सहृदयों को सौंप कर मैं आगे बढ़ता हूँ। इस परम्परा की प्रमुख कृतियाँ हैं—भद्रबाहुप्रणीत आदिपुराण, रविषेणप्रणीत पद्मचरित, स्वयम्भूप्रणीत पउमचरिउ तथा दशरथजातकादि कुछ जातक-कथाएँ। ये सभी कृतियाँ मूल रामकथा की 'विकृति' मात्र प्रस्तुत करती हैं।

रामकथा के नायक सर्वानुग्रही राम के प्रति उपर्युक्त परम्पराओं की दृष्टिभिन्नता के ही कारण रामकथा में 'विविधता' आई। फलतः एक ही प्रकरण (उदा० राम के वनवास का कारण) के सैकड़ों 'विवर्त' जनमानस में प्रचलित हो गये। आज भी भारत की सामान्य जनता इस विषय में सर्वथा उद्भ्रान्त एवं द्वैधग्रस्त है कि 'वास्तविक रामकथा का स्वरूप क्या है ?'

जैसा कि मैंने प्रारंभ में ही संकेतित किया है प्रशान्तमहासागरीय द्वीपों में स्थापित भारतीय उपनिवेश भी या तो वैदिकधर्म के अनुयायी रहे हैं या फिर सौगतमत के ! ईसापूर्व द्वितीयशती में वैदिक धर्म प्रतिष्ठापक सेनापति पुष्यमित्र शुंग के आतंक से भयभीत वौद्धों ने जव भारत से वाहर पलायन किया तो रामकथा उनके साथ सिंहलद्वीप (लंका) सुवर्णभूमि (म्यान्मार, वर्मा) लाओस तथा तिव्वत-चीन एवं मंगोलिया आदि भूभागों में पहुँची। इन द्वीपों की रामकथाएँ भी सर्वथा 'वैरूप्य' ही प्रदर्शित करती हैं।

लाओस की रामकथा में एक सन्दर्भ है : सीतान्वेषण में थके-हारे राम एवं लक्ष्मण ने एकपेड़ पर फलों को देख भूख मिटानी चाही। उस पेड़ में दो शाखाएँ थीं जिनमें एक शाखा का प्रभाव यह था कि उस पर आया कोई भी प्राणी वानर वन जाता था। रहस्य से अनजान भूखे श्रीराम दुर्भाग्यवश उसी शाखा पर चढ़े और तत्काल वानर वन गये। शाखा पर पहले से ही एक वानरी रहती थी, जो वस्तुतः एक विद्याधरी थी। अपनी माता का जारकर्म पिता से वता देने के कारण उसकी माँ ने क्रोधावेश में उसे वानरी वन जाने का शाप दे दिया था।

वृक्ष की शाखा पर ही उस शापग्रस्त वानरी से वानररूपधारी राम का संगम हुआ तथा दोनो के संयोग से एक वानरशिशु 'हनीमोन' का जन्म हुआ। इधर कुमार लक्ष्मण राम को वानर वना देख विलाप कर रहे थे। तभी किसी साधु ने उन्हे वताया कि वृक्ष की दूसरी श.खा पर आने से प्राणी अपने मूल रूप में आ सकता है। लक्ष्मण नाना उपायों से वानररूपधारी भाई को दूसरी शाखा पर आने के लिये ललचाने लगे। उनकी युक्ति सफल हुई। शाखा पर आते ही राम वानर-रूप त्याग कर अपने प्रकृत रूप में आ गये।

दोनों भाई पुनः व्यथित मन से सीता को खोजने आगे वढ़े। उधर 'हनीमोन' उत्पन्न होते ही देवसन्तति होने के कारण वलिष्ठ हो गया और वानरी विद्याधरी भी शापमुक्त हो गई। स्वर्ग जाते हुए उसने अपने बेटे हनीमोन से कहा कि 'यह मानव-

रूपधारी व्यक्ति ही तुम्हारा पिता है। अब तुम निरन्तर इसी की सेवा में रहो।' माँ का आदेश मान हनीमोन भी राम-लक्ष्मण के साथ चल पड़ा।

आगे यह कथा और भी विकृत किन्तु रोचक है। यह भी कहा जा सकता है कि 'वेसिर-पैर' की है। परन्तु विस्तार भय से इसे यहीं छोड़ता हूँ।

थाईलैण्ड की रामकथा (रामकियेन) की एक ऐसी ही विचित्र घटना देखें: रावण द्वारा प्रेरित एक राक्षसकन्या वेञ्जकयी मृत सीता की शवाकृति को नदी में प्रवाहित कर देती है। स्नानार्थ आये राम सीता का शव देखते हैं और विलाप करने लगते हैं। लक्ष्मण भी रोते हैं। उन दोनों को खोजते सुग्रीव तथा हनूमान् भी वहीं आते हैं। हनुमान् को सीता के मरने का विश्वास हो जाता है। अतः चिता प्रज्वलित कर वह सीता का शव उस पर रखते हैं। तभी वेञ्जकयी चीखती हुई आकाश में उड़ जाती है परन्तु हनूमान् छलाँग लगा कर उसे पृथ्वी पर घसीट लाते हैं। विभीषण राम को वताते हैं कि उन्हें प्रवंचित करने वाली वेञ्जकयी उनकी ही कन्या है। परन्तु वह वधयोग्य है। राम उसे 'मित्रकन्या' होने के कारण मारते नहीं वल्कि हनूमान् के साथ लंका भेज देते हैं। मार्ग में हनूमान् तथा वेञ्जकयी का प्रणय प्रगाढ़ हो उठता हैं फलतः हनूमान् के पुत्र असुरफद्र का जन्म होता है जो लंका में ही पाला-पोसा जाता है।

असुरफद्र की यह जन्मकथा मकरध्वज की ही कथा है जो भारतीय रामकथा-ग्रंथों में वर्णित है। ऐसी ही अनेक चित्रविचित्र अन्य कथाएँ थाई रामकथा में विद्यमान हैं।

रामकथा की वैदिक तथा अवैदिक-परम्परा का अन्तर एक ही सन्दर्भ से समझ में आ जाता है। वाल्मीकि की त्रिजटा सीता के प्रति वात्सल्यभाव रखने वाली एक वृद्धा राक्षसी है। परन्तु वाल्मीकि के ही अनुयायी यवद्वीपीय महाकवि योगश्वर त्रिजटा को यौवनसम्पन्न विभीषण की परम सुन्दरी कन्या के रूप में प्रस्तुत करते हैं जो कि छाया की तरह वैदेही के सुख-दुख में साथ निभाती है। 'वृद्धा की अपेक्षा एक समवयस्क युवती देवी सीता की व्यथा को अच्छी तरह समझ सकती थी' इस तथ्य के आलोक में योगीश्वर की परिकल्पना की सार्थकता समझी जा सकती है। परन्तु इसके विपरीत, अवैदिक थाई रामकथा की त्रिजटा अथवा वेञ्जकेयी विभीषण की पुत्री होते हुए भी पिता की इच्छा के विरुद्ध, राम के विरुद्ध कार्य करती है। यह सब मूलकथा की विपरीतमानसिकता की ही उपज है।

इस प्रकार वैदिक, सौगत तथा आर्हत परम्पराएँ रामकथा को विविधता प्रदान करती हैं। परन्तु इस विविधता का एक और विध्यात्मक पक्ष (Positive Approach) है। वह पक्ष विशुद्ध रूप से 'साहित्यिक' है तथा इसका उद्देश्य है काव्यात्मक चाकचिक्य (Poetic Grandeur) की सृष्टि करना। आचार्य कुन्तक इसी को 'प्रकरण-वक्रता' कहते हैं। जब कोई प्रतिभाशाली कवि मात्र सहज रसोद्रेक, चमत्कार की सृष्टि एवं प्रतिभोन्मेष को दृष्टि में रख कर मूलकथा के 'प्रकरण-विशेष' को परिवर्तित कर देता है तो उसे 'प्रकरणवक्रता' कहते हैं। (५)

इस प्रकरणवक्रता ने भी रामकथा को अनन्त विविधताओं से श्रीमण्डित किया है। महाकवि राजशेखर ने 'रामवनवास-प्रकरण' में एक अद्भुत परिवर्तन किया हैं। (६) रावण स्वयंवर-क्षण से ही सीता को पाने की कामना रखता था। परन्तु शैव-धनु न उठा पाने के कारण उसका मनोरथ पूर्ण नहीं हो सका। अब वह सीता का अपहरण करना चाहता है। परन्तु यह तो तभी सभंव था जब राम सीता के साथ वन में आयें। गुप्तचरों से राम के राज्याभिषेक का समाचार पाते ही रावण एक षड्यंत्र रचता है। वह अपनी बहन शूर्पणखा को सिखा-पढ़ा कर अयोध्या भेजता है जो कि मंथरा का- रूप धारण कर कैकेयी को पूर्वप्रदत्त दो वरदान प्राप्त करने के लिये उकसाती है। इस प्रकार राम का दण्डकवन आना तथा रावण द्वारा सीता का अपहृत किया जाना संभव हो पाता है।

आचार्य कुन्तक भी एक ऐसा ही रोचक सन्दर्भ देते हैं। मृत मारीच द्वारा श्रीराम के व्याज से 'हा सीते हा लक्ष्मण' क्रन्दन करने पर देवी सीता भर्त्सनापूर्वक लक्ष्मण को राम की रक्षा के लिये भेजती हैं— वाल्मीकि रामायण में ऐसा वर्णन है। परन्तु उदात्त राघव नाटक के प्रणेता मायुराज को इस वर्णन में एक बहुत बड़ा अनौचित्य दीखा और वह था—लोकविख्यात महापराक्रमी महाधनुर्धर राम की रक्षा के लिये अपेक्षाकृत सामान्य विक्रम वाले छोटे भाई लक्ष्मण का जाना।

फलतः मायुराज ने प्रकरण ही बदल दिया। मारीचवध के लिये वस्तुतः कुमार लक्ष्मण जाते हैं और म्रियमाण मारीच उन्हीं की ओर से 'हा राम' क्रन्दन करता है।

---

५. वक्रभाव : प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृशः।
उच्यते सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः॥ वक्रोक्ति० १'२१

६. द्रष्टव्य : 'बालरामायणम्' का वनवाससन्दर्भ।

कातर सीता देवर की रक्षा के लिये राम को भेज देती हैं और उन्हें अकेली पाकर रावण अपहृत कर लेता है। (७)

संस्कृत नाटककारों ने इसी 'प्रकरणवक्रता' का आश्रय लेकर रामकथा को विविधता के कंचुक से भूषित कर दिया है। यह उनकी कवित्व-प्रतिभा का परिपाक ही है जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा स्वयं ध्वनिकार आचार्य आनन्द वर्धन ने भी की है। (८)

रामकथा की विविधता का एक तीसरा भी कारण है जिसकी चर्चा मैं अव कर रहा हूँ। भारत एक विशालराष्ट्र है जिसमें वेद-वेदाङ्ग एवं पुराण वाङ्मय के अनन्तर रामायण एवं महाभारत की प्रतिष्ठा 'आर्यकाव्य' के रूप में हुई है। इन आर्यकाव्यों का प्रणयन संस्कृत भाषा में हुआ है। परन्तु संस्कृत के ही समानान्तर पालि-प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएँ भी सामाजिक परिवेश में प्रचलित रही हैं, जो कि कालान्तर में आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं के रूप में विकसित हुई हैं। तमिल, मलयालम, कन्नड तथा तेलुगु के अतिरिक्त मराठी, गुजराती, कोङ्कणी, राजस्थानी, डोगरी, काश्मीरी, हिन्दी, बाँगला, असमिया, नेपाली, मैथिली, मणिपुरी, उड़िया आदि अत्यन्त समृद्ध प्रान्तीय भाषाएँ भारत में हैं। हिन्दी की भी कितनी ही बोलियाँ हैं— भोजपुरी, अवधी, ब्रजभाषा, बुन्देली, बघेली, छत्रीसगढी, हरियाणवी आदि। इन सारी प्रान्तीय भाषाओं तथा बोलियों में भी रामकथा-परकग्रंथों की भरमार है। इन भाषाओं के जनकवियों ने भी विविध भावभंगी के साथ रामकथा कही है, जिसे गिना पाना संभव नहीं।

लोकगीतों की रामकथा तो भावसंवेदना की दृष्टि से विलक्षण ही है। वनवासी राम के लिये माता कौशल्या की वेदना, निर्वासिता सीता का स्वाभिमान, दशरथ की पुत्रहीनता की पीड़ा तथा राम एवं सीता के प्रति कैकेयी का मरणान्तक ईर्ष्या-द्वेष का भाव—इन प्रसंगों का जैसा रसगर्भनिर्भर वर्णन अवधी लोकगीतों (Folk Songs) में मिलता हैं उसकी तुलना में वाल्मीकि रामायण के वे ही सन्दर्भ नीरस एवं महत्त्वहीन प्रतीत होते हैं। वस्तुतः इसका कारण हैं लोकगीतकारों की उदग्र कवित्वप्रतिभा। आचार्य आनन्दवर्धन ने ठीक ही कहा है—

'न काव्यार्थ विरामो ऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः।'

---

७. द्रष्टव्य : वक्रोक्तिजीवितम्, प्रथमोन्मेष १.२१ की वृत्ति।

८. यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्सुकविरुपनिवध्नन्निन्द्यतां नोपयाति॥

—ध्वन्यालोक ४.१६

लाहौर

बन्धुवर —

७ अप्रैल १९३६

आपका शान्तिनिकेतन के हिन्दी समाज के वार्षिकोत्सव पर आने का निमन्त्रण पत्र मिल गया था, और उसके लिए मैं आभार मानता हूँ।

आप शायद जानते हैं कि मैं लाहौर में नज़रबन्द हूँ और बिना सरकार की अनुमति के कहीं बाहर नहीं जा सकता। मैंने अनुमति माँगी थी, वह मुझे नहीं मिली।

मैं शान्तिनिकेतन आकर आप लोगों का परिचय प्राप्त कर सकता तो इसे अपना गौरव समझता। खेद है कि सरकार ने मुझे वञ्चित रखना ही ठीक समझा है।

आपका उत्सव सफल हो, और आपके प्रयत्न हिन्दी में नवीन साहित्य की सृष्टि करें, यह मेरी कामना है। मेरी शुभकामनाएँ — यदि उनका कुछ महत्त्व हो — आपके साथ हैं।

शुभाकांक्षी

आपका

82/5 Lytton Road

सच्चिदानन्द वात्स्यायन (अज्ञेय)

अज्ञेय : हिन्दी समाज, शान्तिनिकेतन।

118 Ikbal Road
Lahore 27.7.36.

पूज्यवर,

पत्र मिला। मंत्रीजी का पत्र भी मिल गया था — कुछ देर यों लगी कि लाहौर से लौट कर देहली गया था।

मैं जैनेन्द्रजी के साथ आने को तय्यार हूँ। १ता. से पहले ही उनके साथ पहुँच जाऊँगा।

मैं सोच रहा था कि कुछ कहना ही होगा, तो आधुनिक हिन्दी कविता पर कहूँगा। उसके लिए कुछ तय्यारी भी कर रहा था। कहानी तो मैं लिखता ही हूँ; उसके बारे में क्या कहूँ? फिर कहानियाँ मैं हिन्दी की पढ़ता बहुत कम हूँ; उपन्यास पढ़ता, लेकिन वे हिन्दी में न के बराबर हैं। ऐसी दशा में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकता कि किस विषय पर लिख कर लाऊँगा।

मार्गव्यय के बारे में चौबेजी ने कुछ नहीं लिखा था। ऐसी दशा में आपके प्रश्न का उत्तर मैं यही दे सकता हूँ कि आप जो उचित समझें करें। यदि आपको यह भी सुभीता हो कि व्यय यहाँ न भेज कर वहीं प्रबन्ध किया जाय, तो भी ठीक है; मैं आ जाऊँगा।

आँखों के inflammation की वजह से अधिक लिखने से लाचार हूँ: आशा है आप क्षमा करेंगे।

सप्रणाम

आपका
स.ही. वात्स्यायन
('अज्ञेय')

अज्ञेय : हिन्दी समाज, शान्तिनिकेतन।

मध्ययुगीन भारतीय शिल्प

दिनकर कौशिक

भारतीय शिल्प-इतिहास का विभाजन कालखण्डों पर निर्धारित नहीं किया जा सकता। ध्रुपदी (Classical) शिल्प का समय मात्र तृतीय शताब्दी से लेकर षष्ठ सप्तम या अष्टम शताब्दी तक ही मानने की प्रथा चल पड़ी है। इसमें संदेह नहीं कि मथुरा, सारनाथ, अजन्ता, महाबलीपुरम्, एलीफेंटा, एलोरा आदि शिल्प तीर्थों में चित्रित कृतियाँ उस समय अपने गुणगत उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुँच चुकी थीं। यही नहीं उनमें पायी जानेवाली प्रतिभा और प्राणचेतना सर्व-समीक्षकों-और इतिहासकारों द्वारा मुक्तकंठ से प्रशंसित हुई हैं। यह हुई ध्रुपदी युग (Classical Period) की बात। परन्तु-इन्हीं ध्रुपदी शताब्दियों के समय से ही मध्ययुगीन शिल्प के धुन की अस्पष्ट आहट सुनाई देने लगी थी। उदाहरण स्वरूप हम देख सकते हैं ; एलोरा कैलाश मंदिर की छत पर अंकित भित्तिचित्र जिनमें देवी-देवताओं के चित्रों में चेहरों की दूसरी आँख शरीर के मूल आकार के बाहर रेखित हुई है। यह प्रथा हम मध्ययुगीन १३वीं १४वीं शताब्दी की जैन पाण्डुलिपियों में भी पाते हैं। परन्तु इसका सूत्रपात प्रथम बार एलोरा में ही अष्टम शताब्दी में हुआ जबकी एलोरा को ध्रुपदी युग के अन्तिम उत्कर्ष के रूप में ही देखा जाता है।

अध्ययन की सुविधा के लिये हम मध्ययुग को दशम् शताब्दी से सप्तदश तक ही सीमित मान कर चले हैं। वैसे देखें तो समय का यह विभाजन बिलकुल यथेच्छित (arbitrary) होगा। समय की सरिता प्रवहमान रहती है। यदि उसमें कोई बांध खड़ा करने का प्रयास करे तो विश्लेषण करने के लिये भले ही यह सुविधाजनक हो पर यह विभाजन कृत्रिम ही होगा। शिल्प-स्रोत एंव काल की गति अविराम है अतः उसका अध्ययन भी इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, गतिशील दृष्टि से ही करना होगा। अस्तु।

दसवीं शताब्दी के कालखण्ड में तन्त्र-साधना की परम्परा उत्तर-पूर्व भारत में पनपने लगी थी। यहां 'उत्तर-पूर्व' में नेपाल को भी सम्मिलित करना होगा। कारण बंगाल में जब पाल-सेन राजाओं का आधिपत्य प्रभावशाली हो उठा तो उसका नेपाल

में भी असर हुआ। पाल-नेपाल प्रदेशों में तन्त्र साधकों का विशेष संप्रदाय मानव-जीवन में परमार्थ की खोज में लगा था। इन तान्त्रिक-साधकों में बौद्ध और हिन्दू दोनों हीं अपनी-अपनी प्रणालियों से इष्ट-सिद्धि में प्रयत्नशील रहे। पाल युग का एक दुर्लभ उदाहरण हमें तालपत्र के पटल पर चित्रित की गयी एक असाधारण पाण्डुलिपि के रूप में प्राप्त है। यह अब नस्ली हिरामानिक संग्रह में सुरक्षित है। इसके रंग उज्जल हैं। रेखाएँ विशेष रूप से सधी हुए उंगलियों से बनाई हुई हैं। वस्तुतः वहाँ प्राप्त वोधीसत्व, हरित तारा, श्वेत तारा आदि के चित्र मनोरम रूपों में आवद्ध किये गये हैं। चित्रों के दोनों ओर लिपिवद्ध सुरेखित लेखन है जो काले रंगों से सुगठित अक्षरों में मुद्रित किया गया है। यह और इसी समय की और एक-दो पाण्डुलिपियां एशियाटीक सोसायटी, कलकत्ता और क्लिवलँड म्यूजियम क्लिवलँड, अमेरीका में भी संग्रहीत हैं।

तंत्र-साधना का एक संप्रदाय बौद्ध मतावलंबी था, तो दूसरा उतना ही प्रभावशाली संप्रदाय हिन्दुओं का भी दिखाई देने लगा था। इस कालखण्ड में तंत्र साधना की ओर जन मानस का आकर्षण किस कारण हो सकता है इस प्रश्न पर अनेक तर्क-वितर्क होते रहे हैं। चन्द विद्वानों का कहना है कि बौद्ध धर्म की जो अभिजात सरलता थी वह लुप्त होकर पण्डितों, शास्त्रज्ञों और विशेषज्ञों के वाग्वितण्डों के चक्रव्यूह में फँसकर साधारण लोकमानस को भौंचक्का कर रही थी। लोगों को समझ में नहीं आता था कि बौद्धदर्शन के दाँवपेंचों का आखिर रोजमर्रा के जीवन से क्या संवन्ध हो सकता है। उन तांत्रिकों के पांच मकारों को सांकेतिक दृष्टि से ग्रहण करने पर ; इस मर्त्य जीवन के माध्यम से ही परमार्थ की ओर पदक्षेप करो और मोक्ष की उपलब्धि करनी हो तो मांस, मैथुन या मदिरा का वहिष्कार करने से मानवी लालसा उन्हीं की ओर आवर्तित होती ; मोक्ष तो दूर ही रह जायेगा ; मोक्ष को इन्हीं मकारों के माध्यमों से समझना होगा। यही साधना का सरल उपाय हो सकता है। यह रहा तांत्रिक मतवाद का सारमर्म। इस तान्त्रिक प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप उत्तर भारत में खजुराहों और उड़ीसा में पुरी, कोणार्क आदि मन्दिरो में नर-नारी, पशु-पक्षिओं के मैथुन, रतिक्रीड़ा आदि से संवंधित मूर्तियों का उत्कीर्णन हुआ। बौद्ध दर्शन ओर शैव दर्शन के नेतिवाद को तिलांजली देकर तंत्र साधकों ने जीवन के प्रति श्रद्धा ज्ञापित की। उस श्रद्धा में "यह मत करो, उस भोग को त्याग दो, रसनाके रस वर्जन करो, इंद्रियों का सुख खतम करो" इस प्रकार के क्लेश काठिन्य का स्थान नहीं था। तांत्रिक श्रद्धा में शरीर के मांसल सत्य का अनादर नहीं किया गया था। हम सब शरीर के पिंड में बंधे हुए हैं। शरीर को समझना चाहिये। शरीर के बंधनों का अतिक्रमण करना हो तो बंधनों के जाल के भीतर से ही ऊपर उठना चाहिये। कमल

निर्मल आकाश की छाया में खिलता है परन्तु उसका वीज पंक में ही पनपता है। उसको छोड़ कर वीज कमल के सौदर्य भरे रूप में विकसित हो ही नहीं सकता। तांत्रिक तर्क का शायद यही मूल मंत्र था।

कोणार्क मन्दिर की मूर्तियाँ (१३०० शत०) कितनी प्राणपूर्ण, कितनी जैव ऊर्जा से कूट-कूट कर भरी हुई लगती हैं। यथा इस मन्दिर के छज्जे पर खड़ी नृत्यरत सुर सुन्दरियां। किसी के हाथों में करताल है, तो किसी के मृदंग। उनका सुगठित शरीर, उनका स्मित-विस्मित मुख मण्डल, उनकी लीलायित त्रिभंगी मुद्रा, इन सब को देख कर कोई भी रसिक, जीवन-विमुख दर्शन को त्याग देगा।

खजुराहों के मन्दिरों में भी हमें इसी बात का प्रत्यय नव कलेवरी रूप में मिलता है। यहाँ का पत्थर है वलुआ (Sandstone)। उसमें महीन कारीगरी उत्कीर्ण नहीं की जा सकती हैं। परिणाम यह हुआ कि यहां मूर्तिकारों ने मानवशरीर की कमनीयता को विशेष अन्दाजों में प्रदर्शित किया। सुर - सुंदरियां अपने मार्दक रूप को आइने में निहार रही हैं या अपने पद-पंकजों से शल्य उत्पाटन कर रहीं है। यहां भी पुरुष-स्त्रियों की रति क्रीड़ा का प्रकट दिग्दर्शन है। लेकिन उसमें किसी प्रकार की अश्लीलता या भोंडापन नहीं है। है मात्र उन्मुक्त बाधाविहीन यौनानन्द। जिस आनन्द को शंकराचार्य ने कहा था यह तो 'ब्रह्मानन्द सहोदर' है। उसका एक कण-अंश मात्र है।

दक्षिण भारत में भी मध्य युगीन शिल्प का अपने ही ढंग से उत्कर्ष-घटित होता रहा। महावलीपुरम् को यदि हम ध्रुपदी युग का शेष रेष माने तो तदुपरान्त, जो चोल (१६-११ शत०) राजत्व में शिल्पोत्कर्ष-घटित हुआ उसका विशेष महत्त्व है। उसे मध्य युगीन भारतीय कला का एक वैभवशाली अध्याय मानना होगा। चोल कालीन ढली हुई कांस्य-मूर्तियाँ, जिनका उपयोग पूजा अथवा उत्सवादि आयोजनों में हुआ करता था, आज असंख्य संग्रहालयों को गौरवान्वित कर रहीं हैं। शिव नटराज की ताण्डव नृत्यरत मूर्तियों को अनेक शिल्प इतिहासकारों ने भावभरे शब्दों में सराहा है। ताण्डव नृत्य की कल्पना ही कितनी विशाल है, वह वैश्विक अनुभूति को दर्शाती है। मद्रास के राजकीय संग्रहालय में रक्षित कुछ शिव-ताण्डव मूर्तियाँ आज तो जग-प्रासिद्ध हो गयीं हैं। उनका अध्ययन इस स्थान पर विशेष समीचीन होगा। शिव नटराज अपने नृत्याभिनय की

एक विशेष मुद्रा में एक पैर पर सन्तुलन को टिकाए हुए हैं। दूसरा पैर उठाया हुआ है जो अपस्मार दैत्य के दमन हेतु उर्ध्व रूप है। शिव के चारों हाथ गतिशील घूर्णी में लगातार चक्कर काट रहे हैं। एक हाथ में स्फुलिंग, दूसरे में डमरू, तीसरा हाथ अभयदानरत मुद्रा में उठाया हुआ है, और चौथा हाथ लोल हस्त मुद्रा में। मूर्ति का पार्श्वभाग तिरूवाशी अग्निवलयों से वेष्टित है —गले में सर्पवलय है। इन मूर्तियों के मुख-मण्डल पर एक विलक्षण स्तिमित भाव है इस प्रलय नृत्य में आदि शक्ति का एक महान आनन्द रूप है। इस रूप में प्रलय और सृष्टि एक ही घटना क्रियाके आविर्भाव के दो पहलू हैं।

कांस्य मूर्तियें की परम्परा दक्षिण भारतमें सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक प्राणवन्त रूप से चलती रहीं। यथा शिव-पार्वती, कोदण्डधारी राम, सुन्दर मूर्ति स्वामी, आपार स्वामी बालकृष्ण, आदि अनेक कांस्य मूर्तियाँ आज उपलब्ध हैं। यह परम्परा तमिलों के प्रभाव से श्रीलकां में भी पहुँच गयी थी। वहां से उपलब्ध हुई पट्टिनी देवी कांस्य मूर्ति की आज बृटिश राष्ट्रीय संग्रहालय में रखी हुई है। पट्टिनी देवीकी यह मूर्ति कला का सुन्दर नमूना है। पट्टिनी देवी नत दृष्टिनें दोनों पैरों पर समान भार देते हुए सन्तुलित मुद्रा में खड़ी हुई हैं। उनका वक्ष-भार, क्षीण कटी, एवं सुगठित नितम्व सम्भ्रांतं कुल मर्यादा को दर्शाता है। मुखमण्डल पर सुकुमार-शालीन भाव दर्शाया गया है। पट्टिनी देवी की यह मूर्ति सिंहल चोक कला की एक उज्ज्वल देन है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

कांस्य मूर्तीयों का यह कल्प आखिर तक चलता रहा। सत्रहवीं शताब्दी के उपरान्त जो काम हुआ वह तकनीकी दृष्टि से यथेष्ट उन्नत है यद्यपि उसमें अनुभूति एवं प्राण-चेतना अपर्याप्त सी प्रतीत होती है। भक्ति-साधना का भाव एवं आवेग क्रमशः क्षीण होने लगा था। भक्ति गीतों का भजन और कीर्तन अव्याहत हो रहा था—परन्तु उसमें भक्ति की भाव-विभोरता या इष्ट देवता के प्रति आन्तरिक आकर्षण नहीं रहा। अलवार, नयनारों के गीत, त्यागराज की रचनाएं अत्यंत चाव से गायीं जाती थीं। परन्तु ग्यारहवीं या वारहवीं शताब्दी के शिल्पियों द्वारा निर्मित कांस्यमूर्त्तियों तथा स्थापत्य कला में जो आभिजात्य पाया जाता है वह आगे चलकर शनैः शनैः जड़ होता गया। शुरू में जो अनुभूति (empathy) थी उसमें क्रमशः शैथिल्य आता गया।

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में पश्चिम भारत में जैन मत का विशेष प्रभाव रहा। उस प्रभाव के प्रकाश में सचित्र पाण्डुलिपियाँ लिखी और सजायी गयीं। महावीर जीवन की स्तव गाथाएं कागज के ऊपर प्राथमिक रंगों से—लाल नील सुनहरे रूपो को चित्रित की गयी

और उनके दोनों ओर सधी हुई लेखनी से अनुलेख रखे गये। यह सब गुजरात के अनेक मन्दिरों में सुरक्षित हैं। यह सारी पाण्डुलिपियां पाल पाण्डुलिपियों की परम्परा में ही मानी जायेंगी। सिलुएति (silhouette) चेहरे, दूसरी आंख का बाहरीपन, लेखनीसे अंकित रेखाएं जो खींचें हुए तार की तरह तनी हुई हैं—यह सब हम पाल परम्परा में भी पहले ही देख चुके हैं।

पंद्रहवीं शताब्दीं के कालखण्ड में और उसके उपरान्त पर्शियन चित्रकला की अनेक कृतियां मुगल सम्राटों के साथ उत्तर भारत में आयीं। हुमायुं के साथ दो कुशल चित्र-शिल्पी पर्शिया से आये। वे दोनों दरबार के तैनात में ही थे। उनके द्वारा चित्रित मनुष्य, पशु एवं प्राकृतिक चित्रणों में नवीनता और रंग-लालित्य था। उन चित्रों का (प्रस्पेकटीव) संदर्श भी अभिनव था। उनमें विहंगम (Bird's eye View) दृष्टि में दृश्यों को अभिव्यक्त करने का प्रयास रहता था। पर्शियन चित्रों में तूली का अत्यंत महीन "फिनिश", रंगों की स्वच्छ उज्ज्वलता, ज्यामितीय अलंकरणों का भरसक प्रयोग एवं मानव या पशु चित्रणों में अभ्यासगत हस्त-कौशल दर्शनीय है। उनके चित्रों की इन विशेषताओं का भारतीय, चित्रकरों पर विशेष प्रभाव रहा। अकबर और जहांगीर बादशाहों की दरबारी चित्रशालाओं में जो भारतीय चित्रकार कर्मरत थे—जैसे बसावन, मधो, मन्सूक, आदि ने इन्होंने पर्शियन कलम को अपनाया तो सही, पर पारसी रूपान्वेषण का अनुकरण नहीं किया! भारतीय रूपान्वेषण में निजत्व का कलेवर संजोया। उन दिनों कुछ यूरोपीय चित्रों का भी दरबारों में प्रदर्शन हुआ था। उनमें रूपों की सघनता दिखाने के लिये छाया-प्रकाश का प्रयोग किया गया था। उस विधि का भी प्रभाव भारतीय चित्रकारों पर दिखाई देने लगा था। छाया-प्रकाश को इस खूबी से प्रकट किया गया कि जिससे मानव या प्राणी रूप की त्रिमात्रिक सघनता की ओर संकेत हो सके प्रकाश की ओर नहीं। राजाओं के चित्रों में या सवारी के घोड़ों का शरीर द्विमात्रिक मात्र नहीं रहा।

सोलहवीं शताब्दी के मालवां के या राजस्थानी गुजराती रागिनी चित्र, या चौर पंचाशिका, आदि चित्रों में हम रंगो की सरल उज्ज्वलता देखतें हैं। वर्णलेपन अत्यंत मुक्त उंगलियों से किया गया है, एवं रूपलेखन विशेष सिद्धहस्त अभ्यास-सुलभ रेखाओं में संपन्न हुआ है। उदाहरग के लिये लघुचित्र "शुद्ध-मल्हार" रागिनी चित्र के विषय में यहाँ थोड़ा उल्लेख करतें हैं। मालवा राजपूत शैली में अनेक राग-रागिनियों के

प्रतिमान चित्रों में दिखायें गये हैं। यह 'शुद्ध-मल्हार' विशेष दर्शनीय है। यह सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में चित्रित हुआ था। इसके रंग उज्ज्वल हैं। इसे देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो वर्षा ऋतु के नीले मेघों की छविछाया के अन्तराल में भासमान श्वेत रंग के एक घर का अंश हो। उसके एक ओर दो लंबे वृक्ष हैं और उसके ऊपर दो मयूर-मयूरी बैठे हैं। वृक्ष की पर्णराशि छपे डिजाइन की तरह आंकी हुई है। मयूरों में लगता है एक आगे बढ़ कर संगीत सुन रहा है। श्वेत घर के ऊपर एक कौपिन धारी साधक हाथ में वीणा धारण किये हुए है। यह साधक व्याघ्रचर्म पर आसनस्थ है। उसीके बगल में एक घर का अंश हैं जों मंदिर की तरह दिखता है। घननील वर्षाऋतु के वातावरण में अंकित ये चित्र उज्ज्वल एवं लुभावने से लगतें हैं। सोलहवीं शताब्दी के चित्रों की रंग संगति मार्जित, सरल, उज्ज्वल होते हुए भी आँखों में चमनेवाली या प्रहार करने वाली नहीं है। उनमें रुचिपूर्ण मार्दव एवं सहृदय अभिव्यक्ति पायी जाती है।

इसी समय के काफी राग-रागिनियों के चित्र हैं जिनका राजपूत चित्रों में विशेष गौरव से उल्लेख किया जाता है। ललित रागिनी, मधुमाधवी रागिनी, असावरी रागिनी, तोड़ी रागिनी इत्यादि। इन सबकी कमनीय रंग संगति एवं रेखा की क्षिप्र कथनी विशेष दर्शनीय प्रतीत होती है। मध्ययुग के उत्तरार्ध में जबसे मुगल बादशाहों ने अपना आधिपत्य जमाया तबसे भारतीय चित्रशैली में एक नयी धारा ने प्रवेश किया। यह धारा प्रधानतः फारसी मूल की थी। बादशाह अकबर के दरबार में शाही चित्र-कारखाना था। जब बाबरनामा या अकबरनामा का इतिहासनुमा वर्णन चित्रों में हुआ तो उस समय दो फारसी चित्रकार मीर सैय्यदअली और ख्वाजा अबदुस्समाद राजसी तैनात में थे। उनके प्रभाव से अनेक देशी चित्रकारों ने रंगन और रेखन-विधाएँ हस्तगत की थीं। उन चित्रकारों की तालिका में बसावन, दशवन्त, केसू, मधु, लाल, गोवर्धन आदि दिग्गज चित्रकारों का नाम आता हैं।

मध्य युग के उत्तरार्ध में नवागत मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव चित्रकला, स्थापत्य एवं संगीत में विशेष रूपसे दिखायी देने लगा था। अमीरी खुसरो जैसे विद्वान एवं सूफी व्यक्तियों ने भारतीय संगीत के एक नये आयाम का सृजन किया। ध्रुपद-धमार की प्राचीन प्रथाओं के साथ खयाल, आलाप, ठुमरी-दादरा, एवं नयी तालों का संयोजन हुआ। एक ताल, झुमरा, झपताल, इत्यादि अनेक विभिन्न एवं मनोहारी ताल बंधनों मे गीतोंकी बन्दिशे बनने लगीं। संगीत की अभिरुचि आम सुसंस्कृत समाज में प्रसारित होने लगी।

सूफियों का आगमन मध्ययुगीन भक्ति परम्परा के विशेष अनुकूल था। सूफी सन्तों की ईश्वर के प्रति जो प्रीति एवं चाह थी, उसमें भक्तिवाद की आर्तता और व्याकुलता भी अभिप्रेत थी। इसलिये इस्लाम की प्रारंभिक उग्रता सूफियों के दर्शन के कारण विनम्र हो गयी थी।

मध्ययुगीन शिल्प में स्थापत्य का भी विशेष स्थान है। तंजावूर के राजराजेश्वर मन्दिर, कोणार्क के सूर्य मन्दिर, भुवनेश्वर के लिंगराज मुक्तेश्वर मन्दिर, खजुरहों का कांदार्भ महादेव मन्दिर आदि सब में भारतीय स्थापत्य विशेष रूप से विकसित अवस्था में पाया जाता है। जब मन्दिरों का निर्माण कुछ धीमा पड़ा तो किले, मकबरे, नदियों के तटवर्ती घाट इन सब की स्थापत्य विधाओं का उत्कर्ष घटित हुआ। जामा मस्जिद, लालकिला, फतेपुर सीकरी का विस्तृत प्रकल्प, ग्वालियर का किला मांडू, शेरशाह का सासाराम का मकबरा, हुमायुँ का मकबरा, काशीके अद्वितीय घाट, ये सब भारतीय स्थापत्य शैली के अनुपम उदाहरण हैं। यह सारा कार्य मध्ययुग के उत्तरार्ध में होता रहा एवं बंगाल में इस स्थापत्य प्रतिभा का एक अपना नया अध्याय सृजित हुआ और यह है टेराकोटा मन्दिरों के निर्माण की घटना। बंगाल में पथरीली भूमी का अभाव है। गंगा की गोद मे पला बंगाल उर्वरक और नरम मृत्तिका से परिव्याप्त है। यहाँ के शिल्पियों नें मिट्टीकी इटों में शिल्प साधना की और उसी के माध्यम से विष्णुपुर, बांकुड़ा, वर्धवान, इलमबाजार आदि अनेक स्थानों में टेराकोटा माध्यम हीं उपयुक्त साबित हुआ। इन मन्दिरों की शैल्पिक महिमा अनेक ग्रंथों में वर्णित है और उन्हें मध्ययुगीन शिल्प-इतिहास में अपना उचित स्थान प्राप्त है। इस संक्षिप्त निबंध का समाप्ति अनुबंध लिखना हो, तो हम यह कह सकतें हैं कि पाश्चात्य सामन्तवाद का प्रभाव जब तक दूर रहा : जबतक हमारे देशज शिल्पी, मूर्तिकार एवं स्थपति, भारतीय भौतिक एवं सांस्कृतिक जरूरतों के प्रति प्रकट रूप में प्रतिबद्ध एवं उत्तरदायी रहे, तब तक कमोवेश परिमिति में उत्कृष्ट शिल्प का सृजन होता रहा। ब्रितानी एवं उनके माध्यम से पाश्चात्य शिल्पकारों ने हमारे ऊपर जब बौद्धिक हमला किया और हमारे सारे सिद्धान्तों और शिल्पकृतियों को अमार्जित कह कर उनकी अवहेलना की थी, तब से न हम घर के रहे, न घाट के।

अब नये सिरे से हमारे शिल्प रसिक एवं चिन्तक भारतीय शिल्प की नईं दिशाएं स्थिर कर रहें है और नईं कृतियों का निर्माण कर रहे हैं। उनका अभिनवत्व मान्य हुआ है। उनकी सृजनशील प्रतिभा अब कसौटी पर है।

प्राचीन समाज : व्यवहार और उद्देश्य

आचार्य क्षितिमोहन सेन

समाज-व्यवस्था के मूल में साधारणतः एक ऊँचा आदर्श रहा करता है। भारतीय समाज-व्यवस्था के मूल में भी निश्चय ही महान् उद्देश्य था। शास्त्रकारों ने स्त्रीत्व का एक अत्युच्च और महान् आदर्श स्थापित करना चाहा था—इस विषय में भी कोई सन्देह नहीं है। इसीलिए महाभारत में कहा गया है कि स्त्री मनुष्य का अर्द्धभाग है, स्त्री पति की श्रेष्ठ मित्र है ; वह धर्म-अर्थ-काम इस त्रिवर्ग का मूल है (आदि ७४/१)। संसार में यदि स्त्री का सम्मान न हो भु संसार व्यर्थ है (अनु० ४६/५-६ उद्योग ३८/११)। जिस जगह स्त्रियों के मन में दुःख पहुँचता है, वहाँ कल्याण नहीं (अनु० ४६/७) इत्यादि।

पतिव्रता और शीलवती के माहात्म्य से सारा हिंदूशास्त्र भरा है। किन्तु स्त्री के प्रति पति के कर्त्तव्य का भी कम उल्लेख नहीं है। महाभारत से जान पड़ता है कि जब द्रौपदी थक जाती थीं, तो उनके पति लोग उनका चरण भी दबा देते थे (वन १४४/२०)। स्त्रियाँ युद्धमें योग देती थीं (सभा १४/५१) सभा-समितियों में उनके लिए आसन निर्दिष्ट होते थे (आदि १३४/११); और हस्तिनापुर के कोष की व्यवस्था का भार द्रौपदी पर था (आदि १५९/११)। सिर्फ परिवार में ही नहीं, तपश्चर्या में भी नारी का स्थान महत्त्वपूर्ण था। सत्यवती, गांधारी' कुन्ती, सत्यभामा आदि स्त्रियाँ वृद्धावस्था में वानप्रस्थ व्रत अवलम्बन करके तपोनिरत हुई थीं (आदि १२२/१२ ; आश्रम १५/२ ; १७/२० ; मुषल ७/१४)।

परन्तु यद्यपि शास्त्रकारों का आदर्श बहुत ऊँचा था, पर नानाशास्त्रों और पुराणों में इस आदर्श के व्यवहार संबंधी जो कथाऐं मिलती हैं, वह सदा उत्तम ही नहीं होतीं। किसी समय आदर्श ओर व्यवहार में निश्चय ही बड़ा व्यवधान पड़ गया होगा ; नहीं तो पुराणादि में ऐसी घटनाएँ झूट-मूठ ही सन्निविष्ट न होतीं।

गीता में भगवान् सेअर्जुन नेकहा है कि स्त्रियों में दोष आने से वर्णसंकर पैदा होते हैं, जो सारे कुल को नरक में ले जाते हैं (गीता १/४१-४२)। यह ठीक है और बहुत लोगों का विश्वास है कि वर्णशुद्धि की रक्षा के लिए रोटी-बेटी का संयमन आवश्यक है और इसीलिए जाति-भेद वर्णशुद्धिका पोषक है। परन्तु यह समझना कि केवल ऊँचा आदर्श

महादेवी वर्मा : हिन्दी समाज, शान्तिनिकेतन।

Allahabad :..............193

Ref. No..............

महादेवी वर्मा : हिन्दी समाज, शान्तिनिकेतन।

रख देनेसे ही उस आदर्शका पालन हो जायगा, ठीक नहीं है। आदर्शकी मर्यादा नर-नारीके व्यक्तिगत चरित्रपर निर्भर करती है। पुराने ग्रन्थोंको देखनेसे पता चलता है कि वर्णशुद्धि सुरक्षित रखनेके व्यवहार में शायद कहीं छिद्र भी था।

वैसे तो वैदिक युग में भी, उस समय चरित्रगत विशुद्धता की रक्षा का भरपूर प्रयत्न किया गया था फिर भीं कुछ-कुछ नैतिक दुर्बलता का आभास मिल ही जाता है। उस देश के समाज में दुर्नीतिपरायण पुरुषों और स्त्रियों का अभाव नहीं था। अनुमान किया गया हैं कि कभी कभी भ्रातृहीना कन्याओं की दुर्गति यहाँ तक बढ़ जाती थी कि उन्हें वेश्या-वृत्ति करनी पड़ती थी (Vedic Index Vol. I. P. 395)। अथर्व वेद के एक सूक्त (१५/१/२) में 'पुंश्चली' शब्द का बारम्बार उल्लेख है। इस वेद में (१४/१/३६) 'महानघ्री' या 'महानग्री' शब्द का प्रयोग हैं। फिर बीसवें काण्डके कुन्ताप सूत्रमें इस शब्द का कई बार प्रयोग हुआ हैं। इसका अर्थ भी वेश्या ही है। वाजसनेयी-संहिता (३०/६) में कुमारी-पुत्र शब्द पाया जाता है, जिसका अर्थ महीधरने 'कानीन्' अर्थात् अविवाहिता का पुत्र किया हैं। तैत्तिरीय संहिता (३/४/२/१) में भी यह शब्द हैं और अथर्व वेद में तो लाक्षा के पिताको गाली देने के लिए ही 'कानीन्' शब्द का व्यवहार हुआ है (५/५/८)।

इसी प्रकार ऋग्वेद में इसी अर्थ में (४/१९/९) 'अग्रवेय' शब्द का व्यवहार हैं। अग्र अर्थात् अविवाहिता कन्या। पर सायण ने इस शब्द को किसी व्यक्ति विशेष का नाम कहा है। ऋग्वेद में अन्यत्र (४/३०/१६) भी इस शब्द का प्रयोग हैं। दृष्टान्त के बहाने ऋग्वेद में 'रहसू' शब्द का प्रयोग हैं, जिसका अर्थ करते समय सायण ने कहा हैं कि रहसू वह स्त्री है, जो अज्ञात स्थान में गर्भपात करती है। वाजसनेयी संहिता (२३/३०) में आर्य की उपपत्नी शूद्रा और शूद्र की उपपत्नी आर्या (२३/३१) का भी उल्लेख है।

समाज में इस प्रकार की दुर्गति शायद इसलिए आ गयी थी कि बहुत-सी कन्याओं का विवाह नहीं हो पाता था और घर में ही वे बूढ़ी हो जाती थी। ऐसी कन्याओं को उन दिनों 'अमाजूर्' कहा करते थे। ऋग्वेद में (२/१७/७) ऋषि गृत्समद कहते हैं-अमाजूरिव पित्रोः सचा सती। इस पर सायणाचर्य कहते हैं कि पति न पा सकने के कारण जिस प्रकार अमाजूर् कन्या माँ-बाप के पास रहकर जीर्ण हो जाती है। काण्व सोमारि ऋषि कहते हैं कि ऐसा हो कि हमें अमाजूर् का दुर्भाग्य न भोगना पड़े (ऋग्० ८/२१/१५)। कक्षीवान् ऋषि की कन्या घोषा चर्मरोगाक्रन्त होकर अविवाहित

भाव से ही पति-गृह में रहती थी, वाद में देवता के प्रसाद से अच्छी होकर पति-लाभ करने में समर्थ हो सकीं।

उन दिनों ऐसी बहुत-सी स्त्रियाँ थीं, जो चञ्चल-स्वभावा थीं। वे उत्सवादि में भीड़ करती थीं, जहाँ गान, नृत्य, सुरा आदि के साथ नाना प्रकार की उच्छृंखलताएँ चलती थीं। ऋग्वेद (१/१२४/८) के 'समनगा इव व्राः' 'इस मन्त्र से जान पड़ता है कि स्त्रियाँ समन या उत्सव में जाया करती थीं। इसी वेद में अन्यत्र (४/५८/८) 'समनेव योषाः' से भी ऐसा ही अनुमान होता है। भरद्वाज-पुत्र परयु ऋषि ने कहा है कि धनु की दोनों कोटियाँ 'समनस्था' स्त्रियों की भाँति निरन्तर उद्देश्य सिद्ध कर रही हैं (ऋक् ६/७२/४)।

इस 'समन' के विषय में अथर्ववेद में और भी स्पष्ट कहा गया है। वहाँ ऋषि कहते हैं— "हे अग्नि, हमारे सौभाग्य से कन्यार्थी पुरुष इस कन्या के पास आवें। वरों के निकट यह कन्या रमणीया (पुष्टा) हो, समनों में यह कन्या वल्गु, (रुचिरा, हृद्या, मधुरा) हो और पति का सहवास पाने का सौभाग्य इसे हो" (२/३६/१)। ऋग्वेद में (१०/१६८/२) 'समने न योषा' इसका अर्थ करते समय सायण कहते है कि "धृष्ट पुरुष के पास कामिनियों की भाँति' (धृष्टं पुरुषं कामिन्य इव)।

ऐसा जान पड़ता है कि समाज के व्यवस्थापक उन दिनों इस प्रकार की दुर्नीति से विचलित हुए थे। वे जानते थे कि जिसपर विश्वास न किया जाए, वह भी विश्वास के अयोग्य ही हो जाता है। इसीलिए उन्होंने नाना भाव से नारी की महिमा घोषित की। पर उससे उन्हें विशेष फल मिलता नहीं दिखा। समस्या बनी रही। फिर उन्होंने दूसरी नीति ग्रहण की। नारी-चरित्र के काले पहलू को उन्होंने वीभत्स और जगुप्सा-व्यंजक भाषा में प्रकट किया। ऐसी वातें लिखने में उन्हें सुख नहीं मिला होगा—यह तो मानी हुई बात है। निश्चय ही ऐसा करते समय उनकी मानसिक वेदना अत्यन्त चढ़ावपर रही होगी। तभी तो मनु ने कहा था कि 'स्त्रियों में कुछ भी संयम नहीं होता, मोहित करके पुरुष को भ्रष्ट करना ही उनका काम है (२/१२३-१२४); इस विषय में उनमें अच्छे-बुरे का विचार नहीं है (९/१४); इनके स्वभाव में ही कुछ ऐसा चाञ्चल्य है कि हजार तरह से रक्षा करने से भी कोई फल नहीं होता (९/१५); श्रुति और स्मृति में इनकी चरित्रहीनता प्रसिद्ध है (९/१९) इत्यादि। इसी नवम् अध्याय में मनु भगवान् ने और भी कहा है कि स्त्रियाँ ऐसी हीन और अपदार्थ हैं कि वेद और मंत्र में भी उन्हें अधिकार नहीं है (९/१८)। इसीलिए कभी भी स्त्री को स्वाधीन नहीं रहने देना चाहिए।

सदैव वे पिता के, पुत्र के, या पति के अधीन रहें (९/३)। वशिष्ठ संहिता (५ म अ०) का भी यही मत हैं। हालाँकि साथ ही मनु ने कहा है (९/१५) कि किसी प्रकार के शासन से कोई फल नहीं मिलने का !

एक तरफ तो यह कहा गया है, फिर दूसरी तरफ प्राचीन काल में जो शिक्षा-दीक्षा पाकर ये स्वयं पति वरण करती थीं, उस प्रथा को उठाकर आठ-नौ वर्ष की कच्ची उम्र में विवाह देने की व्यवस्था की गयी। यदि किसी प्रकार की रक्षा कारगर नहीं ही होती है, तो क्यों उन्हें शिक्षित और सुसंस्कृत होने का अवसर नहीं दिया गया ? एक तर.फ तो स्त्री की शुद्धिपर हीं वर्णशुद्धि निर्भर बतायी गयी, दूसरी तरफ उन्हें और मंत्र के अधिकार से वञ्चित करके उच्च आदर्श से अपरिचित रखा गया। मजा यह कि इस प्रकार उच्च ज्ञान से वञ्चित रखने का कारण बताया गया-कामुकता और स्वभावगत असंयम, जब कि संयम-शिक्षा से उन्हें वञ्चित रखा गया। इन परस्पर विरुद्ध बातों की संगति क्या है ?

गोत्र, जाति आदि की जन्मगत विशुद्धि पर ही वर्णाश्रम-धर्म प्रतिष्ठित है। अथच इस विशुद्धि की वाहिका नारियों के ऊपर विश्वास नहीं। यदि सब प्रकार की रक्षण-व्यवस्था बेकार ही है, तब तो वर्णाश्रम व्यवस्था के मूल में ही घुन लगा हुआ है। गौतम पुत्र चिरकारी ने तो स्पष्ट ही कहा था-माता के सिवा और कौन जान सकता है कि गर्भ के बालक का असली पिता कौन हैं (१) ?

इसीलिए गरुड़ पुराण (पूर्व खण्ड ११५/५७) में कहा गया है कि नदी, अग्निहोत्र, भारत और कुल का अनुसंधान नहीं करना चाहिए, करने से दोष से वह हीन हो जाता है (२)।

समाज के व्यवस्थापकों ने वंश-रक्षा की इतनी बड़ी व्यवस्था इसलिए की थी कि आर्यों की संख्या कम न हो जाय। इसीलिए जरूरत पड़ने पर देवर से नियोग करके गर्भधान कराने की व्यवस्था की गयी थी। ऐसा जान पड़ता है कि यह प्रथा भी आगे चलकर आदर्श के विरुद्ध पड़ गयी होगी। स्त्रियाँ पति के अभाव में देवर को पति रूप में स्वीकार कर लेती थीं (३)।

---

१ माता जानाति यद्ग गोत्रं माता जानाति यस्य सः। (शान्तिपर्व २६५/३५)

२. नदीनामाग्निहोत्रणां भारतानां कुलस्य च।
मूलान्वेषो न कर्त्तव्यो मूलदोषेण हीन्यते।।

३ नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम् (अनु० ८/२२)

शायद इस आदर्शगत विरोध के कारण ही कलिकाल में देवर से पुत्रोत्पत्ति का निषेध किया गया था (पराशर०)।

सभी कारण तो मालूम नहीं, पर पौराणिक कथाओं से जान पड़ता है कि उस युग में आदर्श और व्यवहार का व्यवधान बहुत अधिक बढ़ गया था। शायद ही कोई पुराण हो, जिससे हमारी बात का समर्थन न हो जाय। स्वयं महाभारत (अनु० ३८-४० अध्याय) भी ऐसी भयंकर असंयम की बात कहता है। अवश्य ही ये बातें चरित्रहीना पंचचूड़ा की हैं। फिर भी महाभारत में उन्हें स्थान तो मिला ही है। शिवपुराण (धर्मसंहिता ४३ अध्याय) में भी सनत्कुमार ने व्यासजी से पंचचूड़ा कथित स्त्री स्वभाव की बातें कही हैं। इन दोनों ग्रन्थों में कही हुई बातें ऐसी हैं कि उनका अनुवाद देना असंभव है। वाराह-पुराण (१७७ अध्याय) में भी श्रीकृष्ण नारद को यही बातें बताते हैं।

शिवपुराण में केवल पंचचूड़ा की बात कहकर ही स्त्री-स्वभाव की दुष्टताका प्रसंग समाप्त नहीं कर दिया गया है। आगे ४४वें अध्याय में स्त्री-स्वभाव के सम्बन्ध में सती-शिरोमणि अरुन्धती के मुख से भी वैसी ही बातें कहवायी गयीं हैं।

स्कंदपुराण (धर्मारण्य ३/८१-८७) में स्त्रियों को केवल पुरुष को मोहित करनेवाली बताया गया है और नागर खण्ड (८१, ३२-३७) में उनको चरित्र-रक्षा करने में असमर्थ समझा गया है। महाभारत में भी कहीं-कहीं ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं कि बहुपुरुष-युक्ता होना ही स्त्रियों की कामना है (आदि २०२/८), वे कभी विश्वास योग्य नहीं हैं (उद्योग० ३९/५७, द्रोण० २८/४2, आदि २३३/३७)।

यदुवंश के ध्वंस होने के बाद शोकार्त्त यदु-रमणियों को लेकर अर्जुन जा रहे थे कि बीच में आभीर दस्युओं ने आक्रमण किया। यह आश्चर्य की बात है कि उस प्रकार शोकार्त्ता होनेपर भी स्त्रियाँ कामार्त्ता होकर दस्युओं के साथ चली गयीं (मुषल ७/५९)।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्णखण्ड में गोपियों के साथ भगवान् की लीलाएँ चाहे जैसी भी हों, भक्त लोग उसे लीला ही मान लेंगे, पर वहीं स्त्रियों के सम्बन्ध में साधारण भाव से

जो कुछ कहा गया है, वह वहुत अश्लील है (१७२ श्लोक) (४)।

समाज की नैतिक अधोगति का अन्दाजा पद्मपुराण (उत्तर २१३/८-१३) उस पत्नीभक्त पति की व्यभिचारिणी पत्नी की कथा से कराता है, जिसके जार-रतिकी निंदा सुनकर पतिने जहर खाकर प्राण दे दिये थे और उस पत्नी ने अपने जार के परामर्शसे अपने शिशु सन्तान को पालन करने के वहाने अपना प्राण धारण किया था। इसकी सखियाँ भी ऐसी ही थीं। इसका पुत्र बाद में उपनीत होकर परम नारायण भक्त हो गया था। इस पुराण में एक ऐसे ब्राह्मण की कथा भी है, जो गर्भ-पात की दवा दिया करता था। भ्रूण-हत्या उन दिनों खूव प्रचलिय थी। यही कारण है कि शास्त्रों में इस अपकर्म के प्रायश्चित्त का विधान है।

शायद कभी-कभी एक ऐसा समय आया था, जव कि इस विषय में लोक-मत भी वहुत ढीला हो गया था। स्कंदपुराण में एक विधवा के पुत्र-जन्म की कथा है। वताया गया है कि देवता के वर से अपने मृत पति का संग यह पा सकी थी (ब्रह्मखंड, उत्तरखंड १९ अध्याय)। देवताका वर चाहे जो कुछ भी रहा हो, उसका पुत्र समाज में अचल नहीं रहा। यथासमय उसका उपनयन हुआ और वह समस्त विद्याओं में पारंगत तथा समस्त वेदों का ज्ञाता हुआ (वही ७६-७८)।

---

४ अनुसन्धित्सु पाठक पुराणों के निम्नलिखित अंशोंको इस प्रसंग में देख सकते हैं। इनमें से कुछ तो इतने अधिक अश्लील हैं (जैसे पद्मपुराण के पाताल खंडवाला) कि कई निष्ठावान् सनातनी अनुवादकों ने भी उनको अननुवादित रहने देना ही उचित समझा हैं—नारी तप्तांगार और पुरुष घृतकुण्ड,—लिंगपुराण (पूर्वभाग ८/२३); वृहद्धर्मपुराण (उत्तर खंड ५/३)। अश्लील आचरण, गरुड़पुराण (पूर्वखंड, १०९ अध्याय); वामन पुराण ४३३ अध्याय ; अग्निपुराण २२४/३ ; गरुड़पुराण (पाताल० ६८/१७ ३२ और ६५/१३-२२); पद्मपुराण (उत्तरखंड १२८/९६-९८, १०५-१०६)।

मध्यकालीन प्रेम का स्वरूप और 'ले रोमन कोर्टोइज' (Le Roman Courtois)

कल्याण चटर्जी

जैसाकि एक लोकप्रिय प्रेमकथा (Romance) का शीर्षक कहता है— प्रेम एक बहु वर्णनीय अनुभूति है। मध्ययुगीन 'रोमांस' में कभी तो यह अनुभूति गहरी ताड़ना बन जाती है, कभी सब कुछ बहा ले जानेवाली एक भावना, तड़प एक दर्द है और कभी यह पागलपन की हद तक पहुंच जाती है। फ्रांस की रोमांस कथाएँ जो कि एक प्रकार के पद्य में लिखा उपन्यास-स हैं 'Le Roman Courtois'—दरबारी रोमांस के नाम से जाना जाता है। फ्रांस की इन कथाओं का परवर्ती युग में शेक्सपियर ने अपने नाटकों में भी अनुकरण किया। उनकी कामेडी 'मीड समर नाइट्स ड्रीम' में प्रेमानुभूति एक हठात् जल उठने वाली हवस बन जाती है, जो जादू और अन्य कुचक्रों के सहारे पनपती है और इसी कामेडी में प्रेमी को कवि के साथ पागलों के दर्जे में रखा गया है परन्तु दूसरे स्थानों पर शेक्सपियर ने प्रेम को बहुत ही महान् बनाकर महानता प्रदान करने वाली अनुभूति का स्थान दिया है। जैसाकि हम 'रोमियो जूलियट' और 'एनटोनि क्लियोपेट्रा' में देखते हैं। यह दुर्दमनीय प्रेम की कथाएँ सर्वप्रथम दरबारी रोमांस (Courtly Romance) में ही लिखी गईं थीं।

साधारणतः मध्ययुगीन रोमांस साहित्य में प्रेम को प्रायः एक बीमारी के रूप में अंकित किया जाता था न कि एक महान उदार अनुभूति के रूप, में जैसा कि 'पेट्रार्क' के 'सानेट' में. शेक्सपियर' की प्रेम त्रासदी और 'रोमांटिक रिवाइवल' की कविताओं में हम देखते हैं—प्रायः यह एक प्रेमोन्माद के रूप में आँका जाता है, जो अचानक जल उठता है। यह एक रोग है जिसमें आनन्द से अधिक पीड़ा झेलनी पड़ती है, यह दुरारोग्य और घातक है, प्रेम महानता प्रदानकारी अवश्य है पर साथ ही वह प्रेमियों को ध्वंस की ओर भी ढकेल देता है। साधारणतः वाक्-शक्ति के द्वारा प्रेम का जागरण होता है न कि दो प्रेमियों के हृदय और मन के मिलन से— वायवीय सूक्ष्मता के साँचे में ढले सोने की तरह।

जादू और भाग्य के द्वारा प्रेम परिपुष्ट होता है, नाना पेय और वशीकरण की सहायता से इसका काम होता है पर कभी-कभी इनकी सहायता के विना ही प्रेम पनपता है जैसा कि हम 'चौसर' के दो दोस्तों की कहानी में देखते है। दो दोस्त एक दूसरे के शत्रु वन जाते हैं क्योंकि वे एक ही नारी से प्रेम करने लगते हैं (The Knights Tale) दोनों ही जेल की खिड़की से एक राजकुमारी को देख कर उससे प्रेम करने लगे थे। इस कहानी में और अपनी अपेक्षाकृत लम्बी कथा, 'Troilus और Cressida' में चौसर प्रेम की एकाग्रता और उन्मादता को आँकते हैं। चौसर की दोनों रचनाओं में प्रेमी प्रेमिका को पहली बार देखकर तीर विद्ध हिरण की तरह व्यवहार करते हैं। अपनी प्रेमिका से जव तक उनका मिलन नहीं हो जाता वे काँटों की सेज पर लेटे हुए व्यक्ति की भ ति तड़पते छटपटाते हैं। इन रचनाओं में प्रेमिका की भावनाओं का अधिक वर्णन नहीं हुआ है। वह परोक्ष भूमिका निभाती है और अपना निर्णय स्वयं लेने की जगह चालित होती है, पर हम वारहवीं शती के फ्रांस में पनपी 'Le Roman Courtois' की आलोचना भी ओर लौट चलते हैं। प्रेम यहाँ पारस्परिक है। चौसर के रोमांस से कहीं अधिक इनमें नारी की भावनाओं पर ध्यान दिया गया है वारहवीं शती उतनी अन्धकारमय या पिछड़ी हुई नहीं है जितना कि उन्नीसवीं शती के इतिहासकार दिखाना चाहते थे और इस शताब्दी के ऐतिहासिकों ने इस धारणा में संशोधन किया है। उदाहरण स्वरूप चार्ल्स होमर हसकिन्स ने अपनी रचना 'दि रेनिसांस ऑफ दि ट्वेल्थ सेन्चुरी' (१६१२) में भी इस वात का खण्डन किया है। जो भी हो, ' Le Roman Courtois प्रेमियों के बीच महान वंधन की कहानी है।

साधारणतः यह रोमांस कथाएँ महिलाओं को केन्द्रित करके लिखी गईं थीं। यह महिलाएं राज-परिवार या राज-सभा की होती थीं और जिनके पास इन सुललित पद्य रचनाओं का समादर करने की यथायथ शिक्षा, संस्कृति और समय था। ये रचनाएं सर्वथा नवीन थीं क्योंकि समकालीन 'chansens de geste' के अनुरूप— जो कि नायकों की शौर्य गाथाओं का महाकाव्य था—यह गाथाएँ गायी नहीं जाती थीं बल्कि पढ़ी जाती थीं। फलस्वरूप इनमें चरित्र-चित्रण और सूक्ष्म काव्य सौन्दर्य वर्णन पर अधिक ध्यान दिया जाता था।

मध्यकालीन शौर्य गाथा 'chansons de geste' से जिनमें कदाचित् ही प्रेम का उल्लेख हुआ है ये रोमांस कथाएँ अपने प्रेम वर्णन की विशिष्टता के कारण अलग थीं और प्रेम भावना की सार्वभौमिकता ही इन कहानियों को मानवीकता प्रदान करती हैं। प्रेम एक पागलपन है, यह एक दर्द हैं, हाँ, यह एक दुःख कष्ट सहने का ही नामांतर

मात्र है। फिर भी, निम्नांकित उदाहरण से प्रेम की महानता की स्पष्ट झलक इन रचनाओं में मिलती है। कवि प्रेम को ऐसी महानता प्रदान करता है कि हम पाठक यह अनदेखी कर देते हैं कि प्रेम यहाँ व्यभिचार है। पांपपूर्ण प्रेम का चित्रण भी दरबारी रोमँस की एक अन्य विशेषता है। आइए, हम कुछ उत्कृष्ट उदाहरण के संक्षिप्त विवरण देखें—

१) Le Roman de Triston et Iseut— (टामँस और वेरौल का बारहवीं शती के द्वितीयार्थ का सर्वप्राचीन उदाहरण) टिस्टान की कहानी, जो कि कॉर्नवाल के राजा मार्क के भतीजे थे और इसो'ट जो कि दानव मोहॉल्ट की भतीजी थी। टिस्टान मोहॉल्ट को मार डालता है पर खुद जख्मी हो जाता है, इसोट खुद न चाहते हुए भी उसकी सुश्रूषा करती है।

कॉर्नवाल के राजा मार्क, टिस्टान के चाचा इसोट से विवाह करने वाले हैं और टिस्टान को इसोट को कॉर्नवाल ले आने का काम सौंपते हैं। ब्रिटेन के रास्ते में दोनों भूल से ऐसा पानी पीते हैं जो इसोट को मार्क के प्रेम में पड़ने के लिए बनाया गया था। फलस्वरूप दोनों एक दूसरे से न चाहते हुए भी बेहद प्यार करने लगते हैं। प्रेम और कर्तव्य दोनों के बीच ऊहापोह में दोनों ही तड़पते हैं। भवितव्यता रूपी इस प्रेम के विरुद्ध दोनों के ही मन में भीषण द्वन्द्व चलता है कई दुःखदायक अनुभवों के वाद इस अनचाहे प्रेम से मुक्ति पाने के लिए टिस्टान ब्रिटेनी भाग जाता है और वहाँ इसोट नाम की ही एक दूसरी लड़की से शादी कर लेता है यह दूसरी इसोट 'शुभ्र हाथों वाली इसोट' के नाम से परिचित थी पर किसी एक युद्ध में भयानक रूप से घायल होकर टिस्टान पहली इसोट की याद में तड़पता है और अपने विश्वस्त मित्र काहेरदीन को इसोट को ले आने के लिए कॉर्नवाल भेजता है। इधर शुभ्र हाथों वाली इसोट उनकी बातें सुन लेती है और उनसे बदला लेने की सोचती है। जब काहेरदीन प्रियतमा रानी इसोट को लेकर जाहाज में लौटता है तो उसके लहराए सफेद झंडे को वीमार ट्रिस्टान को काला बताती है और ट्रिस्टान अत्यन्त दुखी होकर दम तोड़ देता है। ट्रिस्टान ने काहेरदीन को दो झंडे दिए थे एक सफेद और एक काला। काम पूरा होने की निशानी थी सफेद झंडी और काम न होने की निशानी थी काला झंडा। ईर्ष्या से भभक रही रानी ने ट्रिस्टान को सफेद की जगह काला झंडा लहराने की बात कही थी, प्रेमी फिर एक बार भाग्य के हाथों कठपुतलियाँ वन जाते हैं। इसोट ब्रिटेन में पैर रखते ही अपने प्रेमी के पास दौड़ती है और मृत प्रेमी के पास पहुँचते ही वह भी दम तोड़ देती

रामनरेश त्रिपाठी

प्रयाग २६/३/१९५४

श्रीमान द्विवेदीजी

प्रणाम। आपका ता० ३.३.५४ का [illegible] पत्र मिला। [illegible] [illegible] है कि मैं [illegible] के [illegible] को [illegible] पर [illegible] न [illegible], क्योंकि तबियत [illegible] है। मैं १६ या १७ को [illegible] शान्तिनिकेतन के [illegible] पर [illegible] जाऊँ। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जायेगा। इससे मुझे [illegible] बोलना भी पड़ेगा; इसके लिए [illegible] [illegible] रहो। शान्तिनिकेतन के [illegible] में [illegible] रहे हैं। कृपया इस बार क्षमा कीजिए, श्री गुरुदेव और उनके बाद शान्ति-निकेतन के दर्शन की मुझे बड़ी बलवती लालसा बनी हुई है। यह जो न हो जाय, यही साध है।

(क्रमशः)

हिन्दी मंदिर : [illegible] ८ [illegible]

हिन्दी-संगीत-रत्नाकर [illegible] महोदय [illegible]

[illegible] ही [illegible] किया,

इस काम को प्रगतिशील बनाने

लिये [illegible] बहुत ही उपयुक्त

[illegible] में [illegible] की

एक प्रति डाक से भेजता हूँ।

कृपया [illegible] हिन्दी संगीत-रत्नाकर [illegible]

तक पहुँचा दीजिये और [illegible]

[illegible] पुस्तक [illegible]

में [illegible] हो [illegible]

([illegible])

[illegible] दीजिये।

भवदीय

रामनरेश त्रिपाठी

रामनरेश त्रिपाठी : हजारी प्रसाद द्विवेदी।

है। दोनों एक हो जाते हैं। इसौट के मरणशील होंठ मृत प्रेमी के होंठों से मिल जाते हैं।

टिप्पणीः इस कथा में वर्णित प्रेम मूलतः परकीया है, यद्यपि यह प्रेम कौटम्भिक व्यभिचार नहीं है जैसा कि अन्य कई दरबारी प्रेम कथाओं में मिलता है। प्रेमियों के इस तीव्र प्रगाढ़ कारुणिक अनुभूति के पापात्मक तत्त्व का सुन्दर व संवेदनशील वर्णन हुआ है। इस कथा में स्वच्छन्दतावादी कथाओं (रोमांटिक टेल) का सार्वभौम तत्त्व निहित है। प्रेम एक विवश कर देने वाली ऐसी अप्रतिरोध्य शक्ति है—जो भवितव्यता का रूप धारण करती है। यथार्थ ही, प्रेम नियति है। त्रासदी के मध्ययुगीन मूल्यांकन में नियति ही राजाओं के पतन का कारण थी। यही उनके सर्वनाश का कारण थी। दरवारीं रोमांस में प्रेम अप्रतिरोध्य नियति का स्थान ले लेता है। उनके निषिद्ध प्रेम के परिणाम स्वरूप पश्चाताप, नैराश्य तथा भावावेगों मे अन्य सभी सम्पर्कों को छूते हुए दुःखी मनुष्य प्रेम की अप्रतिरोध्य नियति से जूझता है और वह प्रेम ही उसके सर्वनाश का कारण बनता हैं। यही विधा रेनैसा युगीन त्रासदी के निकटतम आती है। प्रेमियों का वियोग प्रेम की गंभीरता को और बढ़ाता है और उनके आत्मिक गुण को उभारता है। दोनों प्रेमी कठिन परिस्थितियों की अप्रतिरोध्यता की अवज्ञा करते हैं। वे प्रेम के विना संसार कों अर्थहीन समझते हैं। एक दूसरे के प्रति दोनों का समर्पित निर्दोष प्रेम उन्हें आत्मवलिदान के लिए प्रेरित करता है और नियति ताड़ित उनके जीवन को आत्मिक सौन्दर्यालोक से भर देता है। प्रेम का यह स्वरूप जो एक प्रेरणादायक भावना के रूप में अंकित हुआ है, जो दोनों को एक दूसरे के लिए चरम आत्मवलिदान के लिए प्रेरित करता है और ऐसा करते हुए उन्हें परम संतोष की अनुभूति होती है——दरबारी प्रेम के समस्त रोमानी साहित्य में देखने को मिलता है।

2) Marie de France का 'Laidu Laustic'—इसमें एक नारी और एक आदर्शवादी पुरुष के वीच अवैध पर आत्मिक प्रेम की सुन्दर कथा है। यहाँ प्रेमियों की दुःखान्तक नियति गाती हुई बुलबुल के प्रतीक में अवतरित हुई है। उसके पति द्वारा उसके रात्रि जागरण (जब वह अपने प्रेमी से मिलने जाती थी) का कारण पूछे जाने पर उसने वताया था कि वह वुलबुल का गाना सुनने के लिए रात भर जागती रहती है। निष्ठुर पति ने वुलबुल को पकड़ने के लिए जाल विछाया, उसे पकड़कर उसका सर कटवा दिया और उस मृत पक्षी को दुःखी पत्नी की गोद में फेंक दिया।

यह कथा भी मुख्यतः अवैध प्रेम की ही है और इसमें प्रचलित रोमानी प्रेम

कथाओं के तत्व हैं—जैसे छज्जे का दृश्य, प्रेम का आपात-विरोध रोमियों-जूलिएट जैसे नाटकों की याद दिलाते हैं।

Aucassin et Nicolette में भी रोमांस (रोमानी कथा) के सूत्र विद्यमान हैं, पहली दृष्टि में प्यार, जोकि एक मोह-मात्र ही नहीं वरन् एक अमर आत्मिक वँधन है, प्रेमियों का अनिवार्य विछुड़ना, दोनों का एक,दूसरे से मिलने के लिए परिस्थितियों की उपेक्षा करना और सब कुछ भुला देने वाला प्रेम, जिसके लिए दुनिया भी भले ही छूट जाए।

राजा की दीर्घ तड़पन पर कथा का वल देना, निरन्तर युद्ध और घेरावंदी की पटभूमिका, प्रियतमा, जिसको राजा किसी भी प्रकार पा नहीं सकता—उसको प्राप्त करने के लिए राजा की छटपटाहट (ललक) सभी चौसर की 'Troilus and Cryseyde' की याद दिलाते हैं।

Aucassin, Beaucaire के काउण्ट का पालित पुत्र था, जिसका राज्य वेलेन्स के राजा द्वारा आक्रान्त और घिरा हुआ था पर अकासिन (Aucassin) प्रेम में ऐसा खोया हुआ रहता है कि वह युद्ध पर जाने का आग्रही नहीं है। विदेश से लायी गईं और अरवों से खरीदी गईं एक वन्दिनी—निकोलटी से वह प्रेम करता है। पर Aucassin के पिता इस प्रेम को स्वीकार नहीं करते क्योंकि निकोलटी ऊँचे वँश की नहीं है, पर Aucassin अपनी अत्यन्त प्यारी निकोलटी को ही चाहता है और किसी दूसरे को नहीं। अन्ततः अकासिन (Aucassin) युद्ध पर इस शर्त पर जाने के लिए तैयार हो जाता है कि राजा द्वारा एक वुर्ज में गृहबन्दी निकोलटी से वह कुछ देर के लिए मिलेगा। प्रेम से उद्‌वुध होकर थोड़े समय के लिए वह लड़ाई पर जाता है पर राजा अपने वादे से मुकर जाते हैं और उसे एक काल-कोठरी में डलवा देते हैं। उधर निकोलटी विस्तर के चादर के सहारे अपनी कोठरी से भाग निकलती हैं और भागते वक्त (Aucassin) अकासिन के कक्ष के पास से गुजरते हुए उसके-दर्द भरे क्रन्दन को सुनती है और अपने वालों के कुछ लच्छे उसके लिए छोड़ती हुई वह जंगल में भाग जाती हैं। इसके बाद अकासिन (Aucassin) को काल कोठरी से वाहर लाया जाता हैं और उसके सम्मान में एक दावत दी जाती है पर वह उत्सव से भाग निकलता है और उसी जंगल में जा पहुँचता है जहाँ उसकी प्रेमिका भाग आयी है। सौभाग्य से जंगल में प्रेमियों का मिलन होता है और वे वहु प्रतीक्षित आनन्द का आस्वादन करते हैं। पर कुछ ही समय में अरवी उन्हें पकड़ कर अलग कर देते हैं। निकोलटी कारथेज ले जाई जाती है और वहाँ के राजा उसके पिता निकलते हैं। अकाँसिन Beaucaire लौट जाता है और क़ालन्तर में निकोलटी

भी छद्मवेश में वहाँ आ जाती है और दोनों प्रेमी एक वार फिर मिलन के अपार आनन्द सागर में खो जाते हैं।

'अकासीन और निकोलेट' (निकोलटी) एक अनोखी कथा है। संभवतः तेरहवीं शती की शुरुआत में किसी अपरिचित लेखक ने इसकी रचना की थी। दरवारी प्रेम कथा (courtly romance) का यह एक सुन्दर उदाहरण है शायद उससे भी अधिक काव्यात्मक। एक काव्यात्मक सौन्दर्य की पटभूमि में पवित्र भावना की स्वप्निल छवि है। किन्तु इसमें कुछस्थलों में यथार्थ की झलक भी मिलती है—जैसे जिस जंगल में प्रेमी आश्रय लेते हैं उस जंगल के चरवाहों के वर्णन में यथार्थ का पुट मिलता है। 'ट्रिस्टान और इसौट' की रोमानी कथा जिसमें प्रेम एक घोर नियति का अंधकार बन दुखद अन्त की ओर ले जाता है की तुलना में, अकासीन और निकोलेट का प्रेम सुखद परिणत्ति की ओर धावित होता पाया जाता है।

इस कथा का ढाँचा विशिष्ट है, इसमें गद्य और पद्य का मिश्रण है। कथांश के लिए गद्य का व्यवहार हुआ है और भावना की गहराई, कारुणिकता और भावात्मक द्वन्द्व को प्रकाशित करने वाले अंश के लिए पद्य का, इस कहानी की दूसरी विशेषता है कि शायद यह रचना गाई जानी या पठित होने के लिए लिखी गई थी। एक हस्तलिखित पोथी से पद्यांश के लिए स्वरलिपि का उल्लेख भी मिलता है।

दरवारी प्रेम यूरोपीय साहित्य में प्रेम के एक नये स्वरूप को उद्भासित करता है और नारी को एक अनोखे सम्मान का स्थान देता है। यह साहित्य सर्व प्रथम फ्रांस में चारण कवियों (troubadours) द्वारा लिखा गया था। यह दरवारी वातावरण में इन्द्रियासक्त प्रेमी की कथा मात्र नहीं है। वे इसको प्रेम की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में न देखकर आत्मिक वंधन का स्वरूप मानते थे। इन कवियों ने प्रेम को विश्वस्त समर्पित भक्ति-भावना से भर दिया था। दैहिक प्रेम से परे हटकर स्वाभाविक उत्कर्ष, सराहनीय योग्यता और मूल्य के पथ पर प्रेमियों को क्रमिक रूप से आगे बढ़ता दिखाया गया हैं। —(ए. जे. डीनोमी, "कोर्टली लव एँन्ड कोर्टलीनस", स्पेकुलम, २८ (१९५३), पृ. ४४)

एक अर्थ में दरबारी प्रेम एक साहित्यिक क्रान्ति है। पुर्नजागरण के युग में इसका प्रचलन हुआ और दांते व पेत्रार्क के माध्यम से यह प्रवाहित रहा। दरवारी प्रेम कथाओं की विशेषता रही है—अवैध प्रेम जोर अपापविद्धता पर नहीं वल्कि उसकी एक-निष्ठता पर है। प्रेम अपने में ही धर्म था। ट्रिस्टान और इसौल्ड, लेन्स ल्लोट और गुईनीवर—जैसी कहानियाँ अवैध प्रेम को केन्द्रित करके लिखी गई हैं और प्रेम की

रूपातंरकारी क्षमता को अलग से एक भावना के रूप में दिखाया गया है। प्रेम के फलस्वरूप दोनों प्रेमियों का आत्मिक जागरण, प्रेम की महानता में विश्वास, एक-दूसरे के प्रति निष्ठा और पवित्रता आदि ही दरवारी प्रेम कथाओं की विशेषतायें है। एक अर्थ में यह एक तापसिक आदर्श प्रस्तुत करता है क्योंकि यहां प्रेम के लिए सब कुछ त्याज्य है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि Jean de Meung' जो कि एक मानवद्वेषी प्रकृतिवादी थे 'Roman de La Rose' में दरवारी प्रेम को रूपायित किया था, अपनी रचना में तापसिक आदर्श और दरवारी प्रेम दोनों को ही अस्वाभाविक बताया है। ऐसा करते हुए उन्होंने एक बार फिर महिलाओं के विरुद्ध विचार जताया। नारी के आदर्शीकरण के विना कोई भी रोमानी प्रेम की कथा नहीं लिखी जा सकती और Meung नारी में ऐसी कोई खास संभावना नहीं देखते। नारी प्रकृति का एक अंश है, उसका अपना कोई एक मत नहीं है, वह पुरुष की शत्रु है जैसे कि इव आदम की शत्रु थी, और आदम के आनन्द को नट करने वाली भी वही थी।

Roman de la Rose, Guillaume de Lorris के द्वारा तेरहवीं शती के प्रथमार्ध में प्रारम्भ हुआ था पर बीच में ही अधूरा छोड़ दिया गया था। वहुत दिनों वाद उस शती के अन्त में सम्पूर्ण भिन्न मनोवृत्ति के Jean de Meung द्वारा समाप्त किया गया, लौरिस ने कविता को मुक्त-चक्र लम्बाई, प्रतीक-कथा की पद्धति (ढाँचा) और एक सूक्ष्म स्वप्नमय भविष्य की झाँकी प्रदान की थी। पाप और पुण्य के वहुत ही सूक्ष्म अव्यावहारिक मानवीकरण के माध्यम से वे उस कथा के नैतिक तत्त्व को उभारते हैं जो उनके विचारों में समायी हुई है। लौरिस द्वारा रचित कविता का पहला अंश दरवारी प्रेम की परम्परा में आता है क्योंकि प्रेम ही उसका मुख्य विषय है। कविता में जो कहा गया है उसका अधिकांश ही सत्य हैं' और वह प्रेम के स्वरूप को समझने में भी सहायक है पर अन्योक्ति पूर्ण पद्धति आधुनिक परिवर्तन के अनुपयुक्त है।

Jean जव Guillaume की अधूरी कविता को पूरा करने जाते हैं तो वे वास्तविक उद्देश्य को भुला देते हैं और इतने अधिक दूर चले जाते हैं कि अन्योक्ति पूर्ण रीति और दरवारी प्रेम के प्रसंग को भी पीछे छोड़ जाते हैं। वस्तुतः उनका उद्देश्य-काव्य रचना नहीं था—उनकी रीति वहुत ही गद्यमय है वल्कि दुनिया के वारे में अपने विचारों को प्रस्तुत करने के लिए इस कथानक के ढाँचे का व्यवहार किया और इस प्रक्रिया में राजनैतिक, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विचारों को प्रस्तुत किया है। फलस्वरूप यह काव्य मध्य-युगीन विचारधारा का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। Jean जो कि दरवारी कविता की

धारा को आगे बढ़ाते हैं सर्वप्रथम एक पुरोहित विरोधी प्रकृतिवादी दार्शनिक के रूप में गण्य होते हैं क्योंकि उन्होंने मध्ययुगीन आदर्शवादी प्रेम का विरोध किया। इसी धारा में रेनेसा युग के Rabelais और Montaigne आते हैं, धर्म तांत्रिक मत, रूढ़िवादी विचार और कुसंस्कार का बहिष्कार और प्रकाशना के प्रति संशय और अविश्वास इन लेखकों की और साथ ही अनेक रेनेसा युगीन लेखकों की विशेषता थी।

मध्यकालीन रोमानी कथाओं (रोमांस) के प्रति प्रतिक्रियाशील Jean आधुनिकता का प्रतिपादन करते हैं। वह दरबारी प्रेम के विरोधी थे, क्योंकि वे इन कथाओं में वर्णित प्रेम के भावुकतापूर्ण आदर्शीकरण के साथ समझौता नहीं कर सकते थे और इनमें महिलाओं को जो सम्माननीय आधार दिया गया है—उसके विरोधी थे। इस प्रकार के भावुक आदर्शवाद और धार्मिक रहस्यवाद दोनों के प्रति ही उनकी कोई विश्वास नहीं था। उन्होंने शारीर विज्ञान की अनिवार्यता में प्रकृति को ही देवता माना है, जिसकी प्रतिध्वनि रेनेसा युगीन नाटकों में भी सुनाई पड़ती है।

उत्तर मध्यकालीन हिन्दी के रीतिग्रंथों की काव्यशास्त्रीय देन

रामनाथ मेहता

संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र पर व्यापक एवं गम्भीर रूप से विवेचन-विश्लेषण हुआ है। यह एक अलग ही विषय है जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध न तो दर्शन से है और न राजनीति से। "अधिकांश आचार्यों का प्रयत्न पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का विश्लेषण तथा खण्डन कर अपना नवीन मत स्थापित करना है।"(१) इस तरह संस्कृत में ऐसे आचार्यों की एक सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित परम्परा रही है। इन आचार्यों ने प्रायः आचार्यत्व को कविकर्म से पृथक् रखा है। संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में तीन प्रकार के आचार्य हुए हैं-उद्भावकाचार्य व्याख्याताचार्य एवं कवि- शिक्षकाचार्य (२)। काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय एवं सिद्धान्त विद्यमान थे। ये सम्प्रदाय इस प्रकार पर बने कि काव्य में ऐसा कौनसा प्राणभूत तत्त्व है जो सभी अंगों से उपादेय है। कुछ लोग अलंकार, कुछ रीति और कुछ ध्वनि को मानते हैं। इस प्रकार काव्य की आत्मा के समीक्षण में भेद होने से भिन्न-भिन्न शताब्दियों में नये-नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई। ये सम्प्रदाय संख्या में छः हैं। लेकिन विद्वानों का कहना है कि-"सम्प्रदाय की संज्ञा पाने का अधिकारी वही सिद्धान्त हो सकता है जिसकी कोई परम्परा हो अर्थात् जो किसी आचार्य का विशिष्ट मत होकर ही सीमित न रहे, प्रत्युत परवर्ती आचार्यों द्वारा परिवृंहित तथा विकसित किया गया हो तथा जिसके मानने वाले अनेक आचार्यों की सत्ता विद्यमान हो। इस कसौटी पर कसने से "वक्रोक्ति" तथा "औचित्य" केवल "सिद्धान्त" प्रतीत होते हैं। उन्हें सम्प्रदाय मानना कथमपि उचित नहीं है।" (३) सम्प्रदाय तथा उनके प्रतिष्ठा-पक पोषक आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं— रस सम्प्रदाय के भरतमुनि, अलंकार-सम्प्रदाय के भामह, उद्भट, रूद्रट, दण्डी आदि, रीति के वामन तथा ध्वनि-सम्प्रदाय के आनन्द-

---

१ हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहासः भगीरथ मिश्र, पृ० १३

२ हिन्दी-साहित्य का इतिहासः नगेन्द्र, पृ० ४२९

३ हिन्दी-साहित्य (प्रथम-खण्ड), पृ० ३२३

वर्धन, अभिनव, मम्मट पं० जगन्नाथ आदि हैं। "वक्रोक्ति' तथा 'औचित्य" की गिनती सिद्धान्त में होती है।

भरत रस-सम्प्रदाय के सवसे आदि तथा सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। इनके "विभाव अनुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्र रसनिष्पत्तिः" सिद्धान्त के ऊपर भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्ट-तोत, भट्नायक, अभिनवगुप्ताचार्य तथा रूपगोस्वामी ने व्याख्याएं लिखी हैं। किसी कमनीय-काव्य के पढ़ने से तथा रमणीय नाट्य के देखने से चित्त में जो अलौकिक आनन्द उन्मीलित होता है, वही रस है। इस छोटे से वाक्य के ऊपर आज तक अनेक विद्वानों ने अपने बुद्धि-वैभव को खर्च किया है। अलंकार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह हैं तथा इसके पोषक हैं भामह के टीकाकार उद्भट। दण्डी, रुद्रट, प्रतिहारेन्दु-राज, जयदेव, रुय्यक आदि आलंकारिकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से अलंकारो का विवेचन किया है। अन्त में यह दृष्टिकोण स्थापित हुआ कि काव्य-शरीर के लिए अलंकारों का अत्यन्त महत्त्व तो है, पर वे काव्य के सर्वस्व नहीं हैं।

रींतिमत के प्रधान प्रतिपादक आचार्य वामन हैं। इस सम्प्रदाय में अलंकार सम्प्र-दाय की अपेक्षा काव्य-सिद्धान्तों का विशेष विकास लक्षित होता है। वस्तुतः वामन के रीति-निरूपण में काव्य-तत्त्व स्फुटित तो हुआ, परन्तु इतने स्फुट रूप में नहीं जितना ध्वनि सम्प्रदाय में हुआ। रीतिमत को गुण-अलंकार में परस्पर पार्थक्य दिखाने का गौरव प्राप्त है। वैसे रीति प्रतिपादन की परम्परा भरत से लेकर पं० जगन्नाथ तक अक्षुण्ण रही है।

साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में ध्वनि मत अत्यधिक महत्त्वशाली है। इसका उद्देश्य रस अथवा अलंकार को अप्रतिष्ठित या अपदस्थ करना नहीं है अपितु यह वतला देना है कि—"काव्यस्यात्मा ध्वनिः" अर्थात् ध्वनि ही काव्य की आत्मा है, अन्य तत्त्व इसके वाह्यांग हैं, आत्मा नहीं है। आज तक जिन काव्य-तत्त्वों का उद्गम तथा विकास साहित्यशास्त्र में होता आया था उन सवका ध्वनि के साथ सामंजस्य दिखाना इन आलोचकों का गौरवपूर्ण कार्य है। ध्वनि-मत रस-मत का ही विस्तृतीकरण है। आनन्द वर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ एवं पं० जगन्नाथ ने अत्यन्त मनोयोग के साथ ध्वनि को ऐसे स्थान पर पहुँचाया जहां अन्य कोई नवीन काव्यशास्त्र सम्वन्धी सिद्धान्त प्रतिष्ठित नहीं हो सका।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त अलंकार-संप्रदाय पर सूक्ष्म विचार करके स्थिर किया गया सिद्धान्त है। "कथन या अभिव्यक्ति का चमत्कारपूर्ण ढंग ही वक्रोक्ति है। जिसमें वाँकपन हो जो

कि हमारे हृदय या मन पर प्रभाव डाल सके यही कथन कविता है।" (४) अनुभूति को जगाना रस का विषय है और मन को रंजित करने का श्रेय वक्रोक्ति को जाता है। आलंकारिकों ने इसे अलंकार के रूप में मान्यता दी और कुन्तक ने इसका सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है। इस सिद्धान्त को बाद के आचार्यों ने मान्यता नहीं दी परन्तु साहित्यशास्त्र में एक मौलिक तत्त्व के रूप में इसे सदैव स्थान मिलता रहेगा।

औचित्य-सिद्धान्त संस्कृत आलोचनाजगत् की महती देन है। यह साहित्यशास्त्र का व्यापकतम सिद्धान्त है। इसे क्षेमेन्द्र ने कांव्य का जीवातु-तत्त्व माना है। औचित्य के बिना न तो अलंकार ही कोई शोभा धारण करता है और न गुण ही रुचिकर प्रतीत होता है। अलंकार और गुण के शोभन होने का रहस्य औचित्य पर निर्भर है। आलोचना-जगत् के महनीय काव्य-तत्त्व ध्वनि, रस के अतिरिक्त औचित्य अत्यन्त व्यापक तत्त्व है। औचित्य बाह्य एवं आन्तरिक उपकरणों में न केवल व्यवस्था अपितु अखण्ड लय उत्पन्न करके सौन्दर्य उपस्थित करता है। इसी सौन्दर्य के मूल्य में जो प्रीति एवं विस्मय की शक्ति है, इनमें आन्तरिक अनुशासन उत्पन्न करना औचित्य-सिद्धान्त कीं क्षेत्रसीमा है।

डॉ० कुप्पुस्वामी शास्त्री ने औचित्य सिद्धांन्त की व्यापकता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह सिद्धान्त सभी सिद्धान्तों का प्रकाशक है। (५) हिंन्दी के रीतिग्रंथ-कारों ने संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा को भिन्न रूप में लाने का प्रयत्न किया। इस सन्दर्भ में भगीरथ मिश्र का कहना है कि—"हिन्दी के कवि संस्कृत के प्रकाण्ड आचार्यों के सामने नये नियम हिन्दी-काव्य के लिए बनाते और देववाणी के काव्य-सिद्धान्तों को न अपनाते, यह उपहासास्पद था। ऐसा करना तो दूर की बात थी, हिन्दी में काव्य-रचना करना भी संस्कृत से सम्पर्क रखने वाले कवियों के हृदय में कुछ हेयता की भावना भर देता था, क्योंकि संस्कृत-काव्य-विद्वानों के बीच समादृत था और हिन्दी-काव्य को पढ़ने सुनने वाले उस समय संस्कृत ज्ञान-विहीन साधारण जन ही थे।" (६) भक्तिकाल में अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक काव्यशास्त्रीय कार्य हुआ

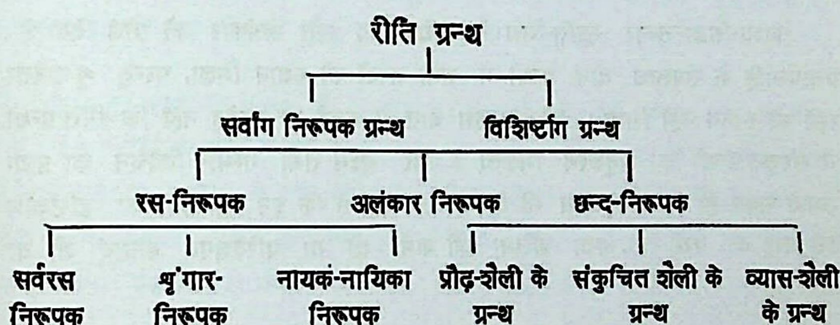
---

४ हिन्दी-काव्यशात्र का इतिहास, पृ० २१

५ हाईवेज एण्ड वाइवेज ऑफ. लिटेररी क्रीटीसिजम इन संस्कृतः कुप्पू स्वामी शास्त्री, पृ० २७—३१

६ हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० २९

लेकिन सं० १७०० से सं० १९०० तक तो काव्यशास्त्र की काव्यधारा अवाध गति से बहती रही। इन्होंने नवीन सिद्धान्तों का निरूपण तो नहीं किया और न ही उनकी कोई ऐसी इच्छा ही थी। "संस्कृत में निरूपित काव्यशास्त्र के उन नियमों को हिन्दी में रखकर उनके उदाहरण उपस्थित करना ही इनका उद्देश्य था।" (७) इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इन्होंने "काव्यप्रकाश" "साहित्य-दर्पण", "चन्द्रालोक", "कुवलयानन्द" "रसमंजरी," "रसतरंगिणी" आदि ग्रन्थों का आश्रय लेते हुए संस्कृत के काव्य-सिद्धान्तों, नियमों, काव्यांगों आदि का हिन्दी में विस्तार के साथ विवेचन किया। इन कवि-आचार्यों ने भिन्न-भिन्न काव्यांगों पर ग्रन्थ-रचना की। एक ही कवि-आचार्य ने रस-ध्वनि, अलंकार आदि विषयों पर अलग-अलग कृतियां लिखी। कुछ ने सभी अंगों पर और कुछ ने केवल रस, अलंकार, नायक-नायिका-भेद एवं छन्दः पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखी। वस्तुतः इस दृष्टि से सम्पूर्ण रीतिग्रन्थों का वर्गीकरण केवल विवेचित विषयों के आधार पर ही युक्तिसंगत एवं वैज्ञानिक है। ग्रन्थों के वर्गीकरण की तालिका निम्न रूप है—



रीति-ग्रन्थों में काव्यांग-विवेचन "काव्यप्रकाश", "साहित्यदर्पण", "चन्द्रालोक", "कुवलयानन्द", "रसतरंगिणी", "रसमंजरी" आदि के आधार पर हुआ है। सभी काव्यांगों का विवेचन करनेवाले रीति-ग्रन्थकारों ने उपयुक्त "काव्यप्रकाश" आदि को अपने निरूपण का आधार वनाया, इनमें चिन्तामणि, कुलपति, श्रीपति, भिखारीदास प्रतापसाहि आदि की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। चिन्तामणि त्रिपाठी ने काव्यस्वरूप में काव्य-हेतु और प्रयोजन प्रसंगों पर प्रकाश नहीं डाला। गुणीभूत-व्यंग्य-काव्य का निरूपण

---

७. वही, पृ० ३१

भी छूट गया है, यद्यपि अर्थानुसार काव्यके उत्तमादि तीन भेदों का निरूपण किया है। कुलपति-कृत "रस रहस्य" काव्यप्रकाश का छायानुवाद है और इन्होंने अपने ग्रन्थ में नायक-नायिका जैसे कम शास्त्रीय-विषय को स्थान नहीं दिया। सोमनाथ प्रणीत "रसपीयूषनिधि" काव्य के सभी अंगों के साथ एक नई परम्परा का उद्घाटन करता है, वह छन्दोविधान को एक अंग के रूप में स्थान देता है। यद्यपि इन से पूर्व केशव और देव भी इसे आवश्यक काव्यांग के रूप में स्थापित कर चुके थे। भिखारीदास रचित "काव्यनिर्णय" अन्य सभी अंगों को विवेचित करते हुए काव्य-लक्षण देना उचित नहीं समझते। काव्य रूपक की चर्चा में ही लक्षण का व्यवहार प्रस्तुत कर दिया लगता है। इन्होने अपने सर्वांग-ग्रन्थ में "अपरांग" (९) और "तुक" (१०) जैसे दो नवीन तत्त्वों को भी स्थान दिया है, इसमें 'अपरांग' तो "काव्यप्रकाश" में वर्णित हैं, लेकिन "तुक" उनकी नवीन उद्भावना प्रतीत होती है, यद्यपि यह अन्त्यानुप्रास का ही रूप माना जा सकता है। "रसिकरसाल" और "काव्यसरोज" इन दोनों ग्रन्थों में सभी काव्यांगों का निरूपण है।

काव्य-सिद्धान्तकार सूरति-मिश्र ने नायिका-भेद और अलंकार को छोड़ दिया है। प्रतापसाहि के उपलब्ध दोनों ग्रन्थों में सभी तत्त्वों को स्थान मिला, परन्तु शृंगारेतर रसों को स्थान नहीं मिला। वस्तुतः इस बात में कतई भी सन्देह नहीं कि रीति ग्रन्थों में संस्कृत-ग्रन्थों का अनुकरण मिलता है और सूक्ष्म तथा गम्भीर विवेचन का प्रायः अभाव सर्वत्र ही है, परन्तु फिर भी देखना तो यह है कि इन आचार्यों का दृष्टिकोण इस तरह का क्यों रहा, क्या प्रतिभा की कमी थी या परिवेशगत बाधाएं थीं या और कुछ।

काव्य-लक्षण जैसे गूढ़ एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय के ऊपर रीति-ग्रन्थकारों की लेखनी अपेक्षाकृत कम ही चली बल्कि प्रमुख आचार्यों में केशव, दास और यहाँ तक कि देव ने भी स्पष्ट लक्षण नहीं दिया है। संस्कृत की काव्यशास्त्रीय-परम्परा में जिस

---

८. क) हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ-भाग, पृ० ३८८६—८८
   ख) हिन्दी रीतिशास्त्र का पुनर्मूल्यांकनः शिवकुमार शुक्ल, पृ० ६८
९. काव्यनिर्णयः सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ५. १, पृ० ३७
१०. वही, २२. । पृ० २१३

व्यवस्थित लक्षण को मम्मट प्रस्तुत कर चुके थे, (११) प्रायः रीति-ग्रन्थों में उन्हीं प्रधान-तत्त्वों की किसी-न-किसी रूप में मान्यता रही। रस को काव्यात्मा मानने वाले आचार्यों ने ज़रूर समर्थ काव्य कीं रट लगाई और इस सन्दर्भ में "अर्थ" को अत्यधिक महत्त्व दिया गया, लेकिन उन आचार्यों में भी केशव, देव आदि ने "सुवरण" और "सुवृत्त" कहकर सुन्दर वर्ण और छन्दों का भी काव्य-लक्षण में समाहार कर दिया। (१२)

भिखारीदास ने रूपक का प्रयोग किया और उसके आधार पर कवि, काव्य और रसिकगत काव्य-लक्षण की परम्परा को प्रस्तुत किया। प्रतापसाहि ने काव्य-लक्षण के लिए मम्मट और विश्वनाथ के लक्षणों का अनुवाद किया, लेकिन एक स्थान पर इन्होंने मम्मट की परिभाषा में रमणीय शब्द जोड़ दिया जिससे प्रतीत होता है कि वे काव्य-लक्षण में कोई नवीनता लाना चाहते हैं। (१३) ऐसी ही स्थिति काव्य-प्रयोजनों को प्रस्तुत करने की भी रही है। अधिकांश प्रयोजन मम्मटानुसार ही मान्य हैं, (१४) यदि कहीं थोड़ी नवीनता है तो वह रीतिकाल से पूर्व या उस समय के कवियों के नाम उद्धृत करने तक ही है। परम्परा से अनुमोदित आनन्दवादी प्रयोजन इस काल के कवि-आचार्यों ने "मनोविनोद" (१५) के रूप में ही गृहीत किया है।

काव्य-हेतु सम्बन्धी धारणा भी मम्मटानुमोदित ही रही, इसे स्पष्ट करने के लिए दास (१७) जैसे आचार्यों ने रूपकमयी भाषा का अवश्य प्रयोग किया है। परन्तु केशव जैसे आचार्यों ने अभ्यास के बारे में स्पष्ट नहीं तो केवल अप्रत्यक्ष रूप में तो कह ही दिया है कि अभ्यास अपने आप नहीं होता, इसके लिए किसी काव्यज्ञ का शिष्यत्व ग्रहण करना पड़ता है। इसी प्रकार से सभी सर्वांग-ग्रन्थों में अर्थ के आधार पर

---

११. काव्यप्रकाश, १. (१) : तद् दोषौ शब्दार्थौ सगुणावलङ्कृती पुनः क्वापि।

१२. (क) कवि प्रियाः केशव, ५. १
(ख) शब्दरसायनः देव, पृ० ९४
(ग) वही, पृ० २

१३. काव्यविलासः साहि, १. ५—८

१४. काव्यप्रकाश, १. २—

१५. रसपीयूषनिधिः सोमनाथ, ६. ३

१६. काव्यप्रकाश : सं० श्रीनिवास शास्त्री, १. ३

१७. काव्यनिर्णय : दास, १. १२

काव्यभेदों की चर्चा हुई है, किसी ने भी नाटकादि के भेदों की चर्चा नहीं की। काव्य-पुरुष की चर्चा भी अधिकांश आचार्यों ने की है। संस्कृत में दण्डी से लेकर विश्वनाथ तक इस विषय में अनेक रूपक बाँधे गए, (१८) लेकिन रीति-ग्रन्थों में अधिकांश आचार्य ध्वनि और फिर रस को काव्यात्मा के रूप में तो स्पष्ट स्वीकार नहीं करते हैं। केशव एंव आचार्य देव "अर्थ" को जीवातु तत्त्व मानते हैं। (१९) इस प्राणभूत तत्त्व के विना काव्य मृत है जिसका परिहार नहीं हो सकता। इस धारणा के लिए ये भरत के पूर्णतया ऋणी लगते हैं। अभिनव गुप्त ने "नाट्याशास्त्र" से एक वाक्य को उदधृत किया है-"रसः काव्यार्थं" अर्थात् रस के लिए ही काव्य का निर्माण किया जाता है। इसके आधार पर यह माना जाता है कि रस को काव्य की आत्मा पहली बार भरत ने माना है। (२०)

चिन्तामणि त्रिपाठी यद्यपि विश्वनाथ अनुमोदित काव्य-पुरुष का रूपक बाँधते हुए विभिन्न कांव्यांगों का स्थान निर्धारित करते हैं, लेकिन "रीति" को इन्होंने काव्य का स्वभाव घोषित किया जोकि विश्वनाथ कथित "अंग संस्थान" के विरुद्ध पड़ता है। (२१) देव और दासने क्रमशः काव्य-पुरुष में सर्वोच्च तत्त्व को जीवन और अंग की संज्ञा दी है अर्थात् आत्मा शब्द से अभिहित नहीं किया। (२२) जीवन और अंग को प्राणभूत या जीवातु तत्त्व मानने से इतना निश्चित हो जाता है कि उस काल के आचार्यों ने

---

१८. (क) काव्यादर्श : दण्डी, १. १०
(ख) साहित्यदर्पण : सं० सत्यव्रत सिंह, पृ० ११
१९. (क) कविप्रिया : केशव, ३. ३
ख) शब्दरसायन : पृ० ९०
२०. (क) नाट्यशास्त्र, ६.३२ वृत्ति, पृ० २५०
(ख) वही, ६. ३२, वृत्ति, पृ० २५२—"काव्यार्थान् भावयन्ती" तत्काव्यार्थों रस :।
(ग) ध्वन्यालोकलोचन : अभिनवगुप्त, पृ० ८५—तेन रस एव वस्तुतः आत्मा।
(घ) काव्यप्रकाश, ७. ४९
२१. (क) साहित्यदर्पण : सं० सत्यव्रत सिंह, ९. १, पृ० ६५८
(ख) कविकुलकल्पतरू : चिन्तामणि, १. ९१
२२. (क) शब्दरसायनः देव, पृ० १६०
(ख) वही, पृ० १
(ग) कावयनिर्णय : दास, १. १३

औचित्य का पूरा पालन किया है। अर्थात् विलास और भोगमय वातावरण में "आत्मा" जैसे आध्यात्मिक शब्द को काव्यपुरुष के लिए चुनना वैसे भी ठीक नहीं लगता था और यदि अधिक गहनता से विचार किया जाए तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि "जीवन" शब्द सूक्ष्म होते हुए भी स्थूल की अधिक अभिव्यक्ति देता है, जिसमें आत्मा जैसा अलौकिक और अदेहिक भाव नहीं है। दास ने अंग शब्द का प्रयोग करके शायद यह धारणा प्रस्तुत करनी चाही हो कि कविता में कोई भी उपकरण अंगी नहीं है अर्थात् प्रधान तो हो सकता है, लेकिन वही हो, ऐसी धारणा के प्रति वे झुके नहीं दिखाई पड़ते। वस्तुतः काव्य-स्वरूप-विधायन में वैसे भी दो प्रकार के उपकरण होते हैं—जिन्हें भाव और कला के नाम से अभिहित किया जाता है, अर्थात् सूक्ष्म उपकरणों में से कोई भी तत्त्व प्रमुखता से सर्वोच्च हो सकता है, लेकिन काव्य में अन्य उपकरणों का योग ही नहीं है या बिलकुल नगण्य है ऐसा कदापि सम्भव नहीं है।

शब्द-वृत्ति, ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य आदि जैसे गम्भीर काव्यांगों पर रीति-ग्रन्थों में विचार हुआ लेकिन मनोयोग के साथ नहीं और जितना हुआ भी है, वह भी अत्यल्प है। केवल औपचारिकता की दृष्टि से ही है। दास, सोमनाथ, प्रतापसाहि और सरदार कवि ने इस विषय का विशद वर्णन किया है। इनमें मम्मट का अनुवाद ही अधिक है। वृत्तियों के भेदोपभेद या तो मम्मटानुमोदित हैं या विश्वनाथ के अनुसार। अभिधा, लक्षणादि इन तीनों वृत्तियों का विवेचन सभी ग्रन्थों में है लेकिन "तात्पर्यवृत्ति" का उल्लेख देव ने किया है। यह चौथी वृत्ति इन तीनों में अन्तर्निहित है। (२३) देव का वृत्ति-विवेचन कुछ अलग से ही है। इन्हें प्रत्येक शब्द में इन तीनों वृत्तियों की विद्यमानता मान्य हैं। प्राचीन आचार्यों को केवल अभिधा और व्यंजना की व्यापकता मान्य है। अभिधा-वृत्ति तो सर्वथा रहती ही है। मम्मट ने व्यंजकता की व्यापकता का उल्लेख किया है-"सर्वेषां प्रायशोऽर्थानाम् व्यंजकत्वमपीष्यते।" (२४) लक्ष्यार्थ की सर्वत्र विद्यमानता निरूपित नहीं हुई है। देव ने ऐसा अवश्य किया है, लेकिन अपने उदाहरणों में लक्ष्यार्थ को सर्वत्र बैठाने के लिए उन्हें प्रायः क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ी है। प्रायः रीति-ग्रन्थों में इस काव्यांग का विवेचन उलझा हुआ है। देव ने नायक-नायिका-भेद का कथन शब्दार्थ-विवेचन के रूप में किया है। प्राचीन संस्कृत-आचार्यों ने शब्द-वृत्ति,विवेचन के सन्दर्भ में व्यंजना को उत्तम, लक्षणा को मध्यम और अभिधा को

२३. शब्दरसायन : देव, पृ० २
२४. काव्यप्रकाशः सं० श्री निवास शास्त्री, २. (८) पृ० ३८

अधम कहा है, लेकिन रीति-कवि-आचार्यों में देव ने इसे उलटा करके माना है। इन तीन शब्द-वृत्तियों में क्रमशः शुद्ध-स्वभाव स्वकीया, गर्व स्वभाव स्वकीया और शुद्ध-परकीया का वर्णन हुआ है। (२५)

व्यंजना-वृत्ति की स्थापना किसी भी रीति-आचार्य ने नहीं की और न ही ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्यादि के भेदोपभेदों में कोई नवीनता प्रस्तुत की है। परंतु इतना अवश्य दिखाई देता है कि किसी ग्रन्थ में कम भेदों की चर्चा है और किसी में अधिक। दास में अन्य आचार्यों की अपेक्षा इस बात में नवीनता है कि इन्होंने "काव्यनिर्णय" में "रसवद्" को जिन्हें प्राचीनों ने अलंकारों में रखा इन्होंने "काव्य-प्रकाश" की तरह ही "गुणीभूतव्यंग्य" के एक भेद "अपरांग' में इसका विवेचन प्रस्तुत कर दिया है। बाकी ग्रन्थों के ध्वनि सम्बन्धी निरूपण शिथिल और भ्रामक हैं। (२६)

रीतिकाल के सभी ग्रन्थों में अधिक श्रव्यकाव्य पर ही विवेचन मिलता है। दृश्य-काव्य का जितना प्रौढ़, विशद एवं विस्तृत विवेचन संस्कृत आचार्यों ने किया है, उसका उपयोग किंचित भर भी इस काल में नहीं हुआ है। इस सन्दर्भ में इतना ही कहा जा सकता हैं कि रीति-ग्रन्थकारों का उद्देश्य मौलिक उद्भावनाओं से नहीं था, बल्कि काव्य-सिद्धन्तों को काव्य अनुशीलन एवं सृजन के लिए सरल रूप से प्रस्तुत करना ही मुख्य ध्येय था। फिर उनकी सबसे बड़ी मजबूरी यह थी कि इस समय तक किसी भी नवीन उद्भावना को प्रस्तुत करने के लिए सशक्त गद्द्य-भाषा की जुरूरत थी, लेकिन रीति-ग्रन्थकार इस सधी हुई गद्द्य-भाषा से वंचित थे। अतएव काव्य की न केवल यही दृश्य-विधा अपितु गद्द्य, गद्द्य-पद्द्यमय (चम्पू) आदि पर भी कुछ नहीं लिखा और न ही इस पर काव्यशास्त्रीय विवेचन किया गया। नारायण रचित "नाट्यदीपिका" का उल्लेख अवश्य किया जाता है, लेकिन इतने वृहत् साहित्य में एक-आध कृति का क्या महत्त्व हो सकता है। इसका उत्तर स्वयमेव स्पष्ट है।

सर्वांग-विवेचक-ग्रन्थों में गुण, रीति, वृत्ति और दोषादि का विवेचन इतना ही हुआ है जितना कि शब्द-वृत्ति और ध्वनि आदि का। चिन्तामणि मम्मट-सम्मत गुणों का

---

२५. (क) काव्यप्रकाशः सं० श्री निवास शास्त्री, १. ४, ५, पृ० २३, २८, ३०
(ख) शब्दरसायन : देव, षष्ठम् प्रकाश, पृ० ७२

२६. (क) काव्यप्रकाशः सं० श्री निवास शास्त्री, ५. ३५, पृ० २१९
(ख) काव्यनिर्णय : दास, ७. २, पृ० ६४

विवेचन प्रस्तुत करते हैं। (२७) इन्होंने वामन-सम्मत गुणों का मम्मटोक्त तीन गुणों में अन्तर्भाव दिखाया है। कुलपति का विवेचन जँहां शिथिल है, वँहां सोमनाथ ने इस प्रकरण को अत्यन्त लघु रूप दिया है। देव का गुण-विवेचन सभी रीति-ग्रन्थकारों से विचित्र प्रकार का है। एक ओर इन्होंने रीति की समता काव्य-पुरुष में अंग-संस्थान से की और दूसरी ओर इसे काव्य की अभिव्यंजना का माध्यम अर्थात् द्वार माना है और रस से उनका अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया है। फिर रीति शब्द का प्रयोग सर्वत्र गुण के स्थान पर किया। (२८) वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र में गुण, रीति और वृत्ति का स्वरूप स्पष्ट हो चुका था। गुण को रस का स्वभाव, वृत्ति को वस्तु एवं इतिवृत्त तथा रीति को सुनियोजित शब्दों के द्वारा अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने के स्वभाव के रूप में निश्चित किया है।

देव का विवेचन आंशिक रूप से कुन्तक से तथा दण्डी से प्रभावित प्रतीत होता है। भिखारी दास ने दोनों प्राचीन और अर्वाचीन मतों का उल्लेख किया है। गुणों को चित्त की अवस्थानुसार निरूपित करने में इन्होंने मम्मट का अनुकरण किया, लेकिन परिभाषा में इन चित्तवृत्तियों का निर्देश तथा विश्लेषण करते समय दोष-गुणों का तर्क-पूर्ण अन्तर्भाव न कर सके। (२९) मम्मट के अनुसार हीं अनुप्रास जाति-वृत्ति के सन्दर्भमें उप-नागरिका आदि के लक्षण भी प्रस्तुत किए हैं। रीति-ग्रन्थों में केवल केशव, देव, भिखारी दास, पद्मनदास आदि ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने वृत्ति अर्थात् कैशिकी, आरभटी आदि का उल्लेख किया है। यह विवेचन इतना संक्षिप्त उपलब्ध है, जिससे कुछ भी निर्णय लेना ठीक नहीं जँचता परन्तु केशव के इस विवेचन में नाट्यवृत्तियों की अपेक्षा काव्यवृत्तियों के विवेचन की ध्वनि अधिक है या अर्थान्तर में यों कहा जा सकता है कि प्राचीन कैशिकी, आरभटी, सात्त्वती और भारती शब्दों में शव्दवृत्तियों को ही निरूपित किया है। (३०)

---

२७. (क) काव्यप्रकाश : सं० श्री निवास शास्त्री, ८. ६७ पृ० ४०९
(ख) कविकुलकल्पतरु : चिन्तामणि, १. ८
२८. (क) शब्दरसायन : देव, ७वाँ प्रकाश, पृ० १२७
(ख) वही, ७वाँ प्रकाश
२९. (क) काव्यप्रकाश : सं० श्रीनिवास शास्त्री, ८. ६८—७०, पृ० ४१७—१९
(ख) काव्यनिर्णय : दास, १९. ९, ११, १४, १६, १८, २०, २३, २४, २७-३०, ३५
३०. (क) रसिकप्रिया : केशव, १५. १
(ख) विस्तार के लिए देखिए : रसिकप्रिया, १५. २—१०

रीतिकाल में द्वितीय प्रकार के और संख्या में सबसे अधिक ग्रंथ हैं रस एवं नायक-नायिका-भेद-विवेचक ग्रन्थ। इस श्रेणी में प्रथम तो सर्वांग निरूपक-ग्रन्थ ही हैं और द्वितीय श्रेणी में तोष, देव, रसलीन, पद्माकर और ग्वाल आदि की कृतियाँ आती हैं, जिन्होंने सामान्य रूप से नौ रसों का और प्रमुखता से शृंगार रस को प्रस्तुत किया है। तृतीय श्रेणी के और संख्या में पूर्वोक्त दोनों श्रेणियों के ग्रन्थों से अधिक ग्रन्थ वे हैं, जिनमें शृंगार रस और उसके आलम्बन नायक-नायिकाओं का ही निरूपण किया गया है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में काल-खण्ड की दृष्टि से रस-विवेचन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। ध्वनिपूर्वकालीन और ध्वन्युत्तरकालीन। भामह आदि ने रस को "रसवद्" कहकर अलंकार के रूप में ग्रहण किया है। (३१) दण्डी का दृष्टिकोण वैसे तो भामह से भिन्न नहीं था, परन्तु भामह की अपेक्षा इन्होंने "रस" को अधिक विस्तार से निरूपित किया और उससे यह अनुमान लगाना कतई भी गलत नहीं कि इन्हें इस तत्त्व के काव्य में उत्कृष्टता मान्य है। एक स्थल पर तो वे इतना तक कह गए हैं कि—"कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचति।" (३२) ऐसी ही अभिव्यक्ति वामन ने "दीप्तरसत्वं कांतिः" (३३) कहकर काव्य-शैली के सौन्दर्य का कारण मानकर की है। इनके इस विवेचन की भिन्नता इस मान्यता पर भिन्न थी कि रस-परिपाक श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्य में अधिक सफलता से होता है। भरत ने भी अभिनय की दृष्टि से रस-तत्त्व को सर्वोपरि महत्त्व दिया था। (३४)

ध्वन्युत्तर-काल में कभी तो इसे रस-ध्वनि के अन्तर्गत स्थान मिला और कभी स्वतन्त्र रूप से। रस-ध्वनि अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के रूप में भी एक तो आनन्दवर्धन और उनके अनुयायी मम्मट ने ध्वनि के अन्तर्गत ही इसे रखा और दूसरी तरफ साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने रस को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य मानकर भी रस का पृथक्

---

३१. काव्यालंकार : भामह, ३. ६

३२. काव्यादर्श : दण्डी, १. ६३

३३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : वामन, ३. २. १५

३४. नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, पृ० ९३

प्रयाग

([illegible])

29·3 3·4

प्रिय द्विवेदी जी,

सादर प्रणाम। मैया के लिए और मेरे लिए आपका आग्रह पूर्ण निमन्त्रण मिला। अनेक धन्यवाद।

घर में एक बच्चा बीमार है। ऐसे में मैया का बाहर जाना असम्भव है। मैं पूर्व निश्चय के अनुसार बाहर जा रहा हूं। इसलिए इस समय मैं गुरुदेव को आत्म-वन्दन करने से रह गया। इच्छा है, फिर समय निकाल कर शीघ्र ही आकर उस तीर्थ के दर्शन करूं। इस समय लाचारी है, आप क्षमा करेंगे।

मेरी नई रचनाएं आप की कृपा दृष्टि में सकीं, यह मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात है। आप उनकी विस्तृत समालोचनाएं लिखेंगे, इस कृपा के लिए कृतज्ञ हूं। आशा है आपकी आलोचना से मुझे जानने योग्य अनेक बातें मालूम होंगी और उनसे मैं अपनी आगे की रचनाओं के लिए बल पाऊंगा।

कृपया लिखिए कि हम लोगों की कौन
कौन किताब नहीं है। मुझे याद आता है
कि इन्दौर का एक बड़ा पार्सल वहाँ भेजा
गया था। जो पुस्तकें वहाँ न होंगी उन्हें
भिजवा दूँगा। उसी पार्सल में आपके
लिए अपनी अन्य किताबें भी भिजवा दी थीं।
आशा है, इसके लिए क्षमा करेंगे।
विशेष विनय। दया रखिए।

विनीत
सियारामशरण

सियारामशरण गुप्त : हजारी प्रसाद द्विवेदी।

विवेचन किया है। (३५) रस को स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित करने वाली दूसरी धारा के प्रतिनिधि आचार्य भानुदत्त थे. जिन्होंने रस-स्वरूप के लिए रसतरंगिणी और नायिका-विवेचन के लिए रसमंजरी का अलग से निर्माण किया। रस्र कों व्यंग्य एवं ध्वनि-काव्य को उत्तम मानने वाले प्रथम श्रेणी के ग्रन्थ हैं— कुलपति-कृत "रसरहस्य", श्रीपति रचित 'काव्यसरोज तथा दास-विरचित "काव्यनिर्णय"।

कविकुलकल्पतरू एवं रसपीयूषनिधि में भी ध्वनि-विवेचन है, लेकिन ये दोनों कृतियाँ रस की ओर अधिक झुकी हैं। रस-विवेचन की तीसरी धारा के रीति-ग्रन्थ रसिकप्रिया, शब्द-रसायन आदि हैं। केशव की रस-दृष्टि कई ओर के प्रभावों से अनुप्राणित है। (३६) एक तरफ भरत की उपलब्धियों से, दूसरी ओर रसाभिव्यक्ति में अभिनवगुप्त (३७) से और तीसरी तरफ शृंगार एवं नायिका-भेद में रूपगोस्वामी की उपलब्धियों से तथा प्राचीन आलंकारिकों से भी प्रभावित है। अतएव केशव रूढ़ सम्प्रदायवादी नहीं हैं। इनकी मान्यताओं में अध्ययन की व्यापकता एवं निजीपन है। देव रस को व्यंग्य मानने के बिलकुल भी पक्ष में नहीं है और इन्हें इसी कारण रसवादी माना गया। (३८) वैसे अलंकारों को काव्योत्कर्ष का हेतु मानकर उनकी स्थिति विशुद्ध रसवादी होने में उतनी हीं सन्देहास्पद है, (३९) जितनी "अर्थ" को काव्यात्मा मानने पर केशव के विशुद्ध अलंकारवादी होने में। (४०) भिखारीदास रस-ध्वनिवादी हैं ही। (४१) वैसे ये तीनों ही आचार्य संस्कृत में प्रचलित दो तरह की रसवादी (विशुद्ध-रसवादी, रस-ध्वनिवादी) परम्परा से इतने प्रभावित नहीं हैं, जितने कि भानुदत्त के (नायिका-भेद वाले) रसवाद से। रसानुभूति एवं निष्पत्ति विषयक दृष्टिकोण अभिनव गुप्त सम्मत ही ग्राह्य रहा है, लेकिन निष्पत्ति सम्बन्धी चार व्याख्याओं

---

३५. (क) ध्वन्यालोक : सं० आचार्य विश्वेश्वर. २. ३, पृ० ७५
(ख) काव्यप्रकाश : सं० श्री निवास शास्त्री, ४. २६, पृ० ११७
(ग) साहित्यदर्पण : सं० सत्यव्रत सिंह, ४. ४, (वृत्ति-भाग) पृ० २८५-८६

३६. रसिकप्रिया : सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, १. १३, १४, पृ० २

३७. वही, १. २

३८. शब्दरसायन : पृ० ८२, ८३

३९. वही, पृ० ९४

४०. कविप्रिया : केशव, ३. ७

४१. काव्यनिर्णय (द्वितीय खण्ड) -सं० बिश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ४. १५ पृ० २-

को किसी ने भी प्रस्तुति नहीं दी। केवल मात्र प्रतापसाहि ने ही इन चार व्याख्याओं को परिचय की दृष्टि से स्पर्श किया है। (४२)

सम्पूर्ण रीति-युग में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ व्याप्त रही हैं—शृंगारवाद एवं अलंकारवाद। इन दोनों प्रवृत्तियों से रीतिकाल के सभी आचार्य प्रभावित रहे हैं। केशव यद्यपि शृंगारैकवाद के मुख्य प्रेरक एवं पुरस्कर्त्ता है, (४३) लेकिन इसके प्रबल पोषक देव ही रहे हैं। (४४) शृंगार के सन्दर्भ में इनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक थी और इसी कारण इनका रस-परिपाक-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी परम्परागत नहीं है। इन्होंने स्नेह और प्रारब्ध को रस-परिपाक के लिए अनिवार्य माना है। प्रेम की मूल अनुभूति तो नायक-नायिका को होती है, इसलिए इन्होंने नायक-नायिका के हृदय को सामान्यतः रस का क्षेत्र माना है और उधर पात्र, सहृदय और अपने आपको एक रूप में देखा है। रस-स्थिति नायक-नायिका के हृदय में मानने से ये अभिनव और भट्टनायक का उल्लंघन करते दिखाई पड़ते हैं। परन्तु रस वाच्य नहीं होता, ध्वनित होता है अर्थात् विभावादि के द्वारा वह विम्ब-रूप-योजना से ही प्रकाशित होता है। देव इस दृष्टि से अभिधावादी हैं। भरतमुनि ने सर्वप्रथम रस को स्थायी-भावों के विभावादि के रूप में रस-सामग्री जुटाने को रस-योजना या रस-प्रवर्तन कहा, दूसरी ओर विभावादि के अभिनय दर्शन से हृदय का रसप्राप्त करना रस माना है। (४५) इस प्रकार भरत के अनुसार विभावदि के उपनिबंध या संयोग-रूप में संयोजित आस्वाद्य-सामग्री भी रस है और रस-अनुभूति-रूप आस्वाद भी। अभिनय पर विचार करते हुए रस को वस्तुगत या विषयगत ही माना जाता है। और सहृदय अनुभूति की दृष्टि से उसे आस्वाद, अनुभूति या आत्मा-रूप भी स्वीकार किया है। वस्तुतः देव का रस-निष्पत्ति विषयक-दृष्टिकोण सन्देहास्पद है और केशव का पाठक की दृष्टि से उचित नहीं।

शृंगाररस के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद विवेचन करने वाले ग्रन्थों के उपजीव्य भानुदत्त के दो ग्रन्थ रहे हैं, लेकिन अनुकरण इनका भी शतशः नहीं मिलता। रीति

---

४२. काव्यविलास : प्रताप साहि, ३. १७-२४

४३. रसिकप्रिया, खण्ड-१ : सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, १. १४, १६, पृ० २-

४४. भावविलास : देव, १०

४५. नाट्यशास्त्र, ६. २

कवि-आचार्यों ने जैसे—केशव, मतिराम, देव, पद्माकर, वेनीप्रवीन तथा तोष आदि ने इस विषय का सर्वांगीण निरूपण प्रस्तुत किया है। मतिराम ने "रसराज" में शृंगारस पर बहुत कम लिखा है। अधिकांश भाग इसका नायक-नायिका-भेद में ही व्यतीत हुआ है। पद्माकर के "जगद्विनोद", देव के "भावविलास" इन दोनों ग्रन्थों की भी यहीं स्थिति है, लेकिन ये दोनों आचार्य कुछ चिन्तन-प्रधान आचार्य कहे जा सकते हैं।

विशिटांग-विवेचक-ग्रन्थों में अलंकार-निरूपक ग्रंथों की संख्या रस-नायक-नायिका-भेद वाले ग्रन्थों के वाद है।सर्वांग-विवेचन ग्रन्थों में जहां "काव्यप्रकाश" एवं "साहित्यदर्पण" का अनुकरण मिलता है, वहाँ पर विशिष्टांग-ग्रन्थों में चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुकरण पर भी अलंकार विवेचन है। केशव और देव कुछ दण्डी के "काव्यादर्श" का आधार लेकर भी इस विवेचन को करते रहे हैं। संस्कृत के काव्य-शास्त्र-ग्रन्थों में "अलंकार" शब्द आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त से पूर्व प्रायः अव्यवस्थित रूप में था। अलंकार-अलंकार्य के वारे में दृष्टि स्पष्ट नहीं थी। भामह से कुन्तक तक के पूरे प्रवाह में अलंकार की व्यापकता देखी जा सकती है। मम्मटाचार्य द्वारा स्पष्टतः इसे "हारादिवत्" (४६) कहकर इसके क्षेत्र को निश्चित करना आगे आने वाले आचार्यों के लिए प्रेरणास्रोत वना लेकिन जयदेव ने पुनः इस तत्त्व की काव्य में अनिवार्यता की घोषणा कर दी। (४७) वस्तुतः हिन्दी रीति-ग्रन्थों में अलंकारों से सम्बद्ध धारणा और इनके प्रयोग औचित्य के बारे में वैसी ही स्थिति उत्पन्न हुई जैसी कि नायिका-भेद में रीति-ग्रन्थकारों ने भानुदत्त का अनुकरण किया तो ज़रूर लेकिन विवेचन की शैली और उसके प्रतिपाद्य को स्वेच्छा से ही ग्रहण किया अर्थात् भानुदत्त ने रस-स्वरूप-विश्लेषण रसतरंगिणी में किया था और नायिका-भेद-विवेचन रसमंजरी में अलग से। रीति के किसी भी शृंगार-विवेचक-ग्रन्थ में ऐसी परिपाटी का प्रयोग नहीं मिलता है। वस्तुतः अलंकार-विवेचन में भी ऐसी स्थिति सामने आती है। नीति का अनुसरण "हारादिवत्" मम्मट का और विवेचन के लिए अनुगमन चन्प्रालोक और "कुवलयानन्द" का। भाषाभूषण, पद्माभरण, शिवराज भूषण आदि ग्रन्थ इन्हीं के अनुसरण पर हैं। केशव ने

४६. काव्यप्रकाश : सं० श्रीनिवास शास्त्री, ८. ६६, ६७

४७. चन्द्रालोक : जयदेव, १. ८

"कविप्रिया" (४८) में अलंकार को इतने व्यापक रूप में लिया, जिसमें अलंकार-अलंकार्य दोनों ही आ जाते हैं। इन्होंने काव्य-रसों को "रसवद्" कह डाला जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि "रसिक-प्रिया" (४९) में जिस कृष्णश्रृंगार रस को वे 'रसराट्" की उपाधि से विभूषित कर बैठे थे और अन्य रसों के अन्तर्भाव को इन्होंने स्पष्ट करके दिखाया भी वह काम इनका प्राचीन अलंकारवादी दृष्टिकोण को ग्रहण करने से मिल गया लगता है। परन्तु अलंकारवाद की दृष्टि से तों यही कहा जाएगा कि केशव भी रस को "रसवद्" मानने से अलंकारवादी ही हैं।

देव कीअलंकार-विषयक धारण स्पष्ट है। (५०) और भिखारीदास तो पूर्णरूपेण मम्मट का ही अनुमोदन करते हैं। (५१) इन्होंने काव्यनिर्णय में रमवत्, प्रेयस आदि अलंकारों को अपरांग गुणीभूतव्यंग्य में निरूपित किया है, जिससे मम्मटानुकूल दृष्टि स्पष्ट झलकती है। लेकिन केशव, पद्‌माकर आदि आचार्यों ने इन्हें अलंकारों में ही रखा है। देव इन अलंकारों की कोई व्याख्या नहीं करते। रीति के अधिकांश अलंकार निरूपक-ग्रन्थों में रसवत् आदि अलंकारों का विवेचन नहीं हैं और सोमनाथ ने इन्हें असंलक्ष्यक्व्यंग्य में रखा है। संस्कृत आचार्यों ने अलंकारों के विभिन्न आधारों का निरूपण, शब्द और अर्थालंकारो का सापेक्षिक-महत्त्व और उनके वर्गीकरण के बारे में अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है, लेकिन केशव, पद्‌माकर आदि आचार्यों ने इन्हें अलंकारों में ही रखा है। देव इन अलंकारों की कोई व्याख्या नहीं करते। रीति के अधिकांश अलंकार-निरूपक-ग्रन्थों में रसवत् आदि अलंकारों का विवेचन नहीं है और सोमनाथ ने इन्हें असंलक्ष्यक्व्यंग्य में रखा है। संस्कृत आचार्यों ने अलंकारों के विभिन्न आधारों का निरूपण, शब्द और अर्थालंकारों का सापेक्षिक-महत्त्व और उनके वर्गीकरण के बारे में अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। लेकिन केशव, देव, सोमनाथ आदि आचार्यों ने सामान्य रूप से ही इसे विवेचित किया है। देव ने शब्दरसायन में उपमा और स्वभाव को अन्य अलंकारों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। केशव ने अलंकारों

---

४८. (क) कविप्रिया, खण्ड-१ सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ३. २, ३
(ख) वही, ५. १, २.

४९. रसिकप्रिया, खण्ड-१ : सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, १. २

५०. शब्दरसायन : देव : सं० जानकीनाथ सिंह "मनोज", पृ० ९४

५१. काव्यनिर्णय : दास, १९. ६३-६७

का वर्गीकरण सामान्य और विशेष आधार पर किया जिसे अलंकार-अलंकार्य का भेद कहना ठीक होगा। (५२) भिखारीदास ने अपने काव्यनिर्णय में उपमा, उत्प्रेक्षा और अन्योक्ति क्रम से अलंकार-निरूपण किया और अलग से वाक्यालंकार की उद्भावना भी की है। भिखारीदास अलंकारों को मम्मटानुसार वाक्य और व्यंग्य की दृष्टि से विवेचित करते हैं। रीतिकाल में शृंगार और अलंकार—इन दोनों काव्यांगों का विशिष्टता के साथ निरूपण तो हुआ, लेकिन लक्ष्य रीझना-रीझाना और शिक्षापरक होने से यह आचार्यत्व स्तर का प्रौढ़ कार्य नहीं है।

रीतिकाल के शृंगार एवं अलंकार जैसे काव्यांगों के समान ही छन्दोविवेचन भी खूब विस्तार के साथ हुआ, लेकिन इस काव्यांग को विवेचित करने वाले ग्रन्थों की संख्या सर्वांग-ग्रन्थों के समान ही कम है। ग्रन्थों के कम होने का कारण तो स्पष्ट ही है। एक तो यह है कि पिंगल काव्य के मूल-तत्वों में से नहीं है, और दूसरा यह कि इसका विवेचन अत्यन्त प्राविधिक है। अर्थात् बँधे-बँधाये लक्षण के अतिरिक्त कहीं भी स्वतन्त्र रूप से तार्किकता के लिए अवकाश नहीं है। संस्कृत की काव्यशास्त्रीय-परम्परा में कहीं भी छन्दोंविवेचन अन्य काव्यांगों के साथ नहीं हुआ। परन्तु रीतिग्रन्थों के कुछ सर्वांग-विवेचक-ग्रन्थों में विवेचन ही नहीं अपितु लक्षण (५३) तक में इसे स्थान प्राप्त है। देव, दास और रामसहाय दास रचित छन्दः ग्रन्थों में कुछ नवीनता है। देव ने छन्द का लक्षण और उदाहरण उसी छन्द में दिया है। (५४) यह शैली संस्कृत के पिंगल-

---

५२. कविप्रिया, खण्ड-१ : सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, १. २

५३. (क) शब्दरसायन, पृ० २
(ख) वही, पृ० १६९
(ग) वही, पृ० १६०
(घ) रसपीयूषनिधि, ७. २
(ङ) काव्यविलास' १. ८

५४. (क) शब्दरसायन, १० म प्रकाश, सम्पूर्ण
(ख) काव्यनिर्णय, पृ० २४४

ग्रन्थों से ही ग्रहण की गई है। सवैया के विभिन्न भेदों के लक्षण भगण द्वारा किए गए हैं। सवैया और घनाक्षरी के कुछ नवीन भेदों को भी जैसे—मंजरी, मिलित, सुधा, अलसा आदि वर्णित किए गए हैं। दास और रामसहाय दास ने हिन्दी में "तुक" के रूप में एक नए छन्द का आविष्कार किया। इसका श्रेय दास को और परिष्कृत रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय रामसहाय को जाता है। रीति-ग्रन्थों का छन्दोंविवेचन "प्राकृतपैंगलम्". "वृत्त-रत्नाकर" और "छन्दोमंजरी" पर आधारित है। दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया आदि ऐसे छन्द हैं, जिन्हें रीतिकाल के कवियों और कवि-आचार्यों ने सर्वोच्च स्थान प्राप्त करवाया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत में सभी प्रधान काव्य-तत्वों पर एक-एक सम्प्रदाय का जन्म हो चुका था, लेकिन आनन्दवर्धन इस काव्यशास्त्रीय-समीक्षा के विकास में ऐसे आचार्य रहे हैं, जिन्होंने सभी काव्यांगों के स्वरूप और लक्षण निश्चित कर दिए थे। सभी तत्वों का काव्य में अपना-अपना स्थान निश्चित हो चुका था, इसलिए धीरे-धीरे सभी सम्प्रदाय लुप्त होने लगे। मम्मट ने अपने व्यवस्थावादी दृष्टि से इसे और भी पक्का कर दिया और विकास का यही रूप 'रसगंगाधर" में अपनी प्रौढ़ता की चरम सीमा तक पहुँच चुका था। पं० जगन्नाथ के कार्य से ध्वनिवाद तथा अलंकारवाद दोनों एकत्रित हुए। इस युग में साहित्य-निर्माण की भाषा वदल चुकी थी। हिन्दी ने संस्कृत का स्थान ग्रहण कर लिया। ब्रजभाषा साहित्य की भाषा बन गई। हिन्दी के रीति-ग्रन्थकारों ने भी प्रौढ़ता एवं व्यापकता के लिए संस्कृत का क्षेत्र सुरक्षित समझा और हिन्दी साहित्य को शृंगार और अलंकारवाद की ओर ले गए। इनमें आचार्य केशव मुख्य प्रेरक रहे हैं। इनके साठ-सत्तर वर्ष बाद रीतिकाल के सबसे अधिक प्रौढ़ ग्रन्थों के प्रणेतागण आचार्य मम्मट की समन्वयवादी-दृष्टि के अनुकर्त्ता वने। काव्य के सभी अंगों का प्रतिपादन करते समय इन आचार्यों के सामने मम्मट का काव्यप्रकाश था। अतएव ध्वनि को छोड़कर किसी भी अंग को काव्य स्वरूप-विधायन में सर्वोच्च ठहराना विलकुल ही सम्भव नहीं था। अलंकारवाद को जो पुनः जीवन "जयदेव" ने दिया था, उसका असर केवल इतना हुआ कि तात्कालिक कवि-आचार्यों ने इसे चमत्कार विधायन में ग्रहण कर लिया लेकिन "हारादिवत्" की नीति नहीं बदली। इसी प्रकार रसवाद की जो लहर भानुदत्त ने चलाई, उसका असर भी नवीन सम्प्रदाय-स्थापना में न हुआ, वल्कि रीति-कवि-आचार्यों ने शृंगार-प्रदर्शन के लिए ग्रहण कर लिया।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त जो अन्य विशिष्टांगों को निरूपित करने वाले सामान्य आचार्य थे, उन्होंने प्रदर्शन की जो परिपाटी अपनाई, उसमें वे सफल भी हुए। किसी आचार्य की शैली का अनुकरण करना, या किसी विशिष्ट काव्यांग के आधार पर ग्रन्थ प्रणयन करना या फिर किसी वाद या सम्प्रदाय को आधार बनाकर ग्रन्थ-रचित करना रीति-कवि-आचार्यों का ध्येय नहीं था, इसके संकेत इन्होंने पहले ही अपने काव्य लक्षण, प्रयोजन और हेतु में इंगित कर दिए हैं। रही आचार्य-कर्म की बात, इस विषय में इनके ग्रन्थ स्वयं काव्य-रीति और काव्यांगों के साधारण विश्लेषण का परिचय देते हैं। गहरे विश्लेषण के लिए परिवेश एवं उद्ददेश्य-भिन्नता शायद इतनी बाधक नहीं बनी जितनी बाधा वैचारिक-विषयों को स्पष्ट करने के लिए अनसधी भाषा ने प्रस्तुत की। रीति के सर्वांग-निरूपक-आचार्य चाहने के बावजूद भी जब विषय-विश्लेषण में अटके तो वे इन विषयों को अधूरा छोड़ गए या फिर इन्हें स्पर्श ही नहीं किया। जहां उदाहरणों को प्रस्तुत करने का अवकाश था, वहाँ पर झड़ियाँ लगाने में ये लोग चुके भी नहीं।

रीतिकाल के आचार्यों का कुछ विवेचन मौलिक भी लगता है, जैसे-शृंगार के रस-राजत्व की घोषणा, केशव का शृंगार रस का प्रच्छन्न और प्रकाश भेद, देव के द्वारा रस के लौकिक और अलौकिक दो भेद और फिर अलौकिक के स्वाभाविक, मनोरथिक, औपनायिक आदि अवान्तर-भेद, भाव के ही क्षेत्र में इनके संचारी के दो भेद-शारीर और आन्तर तथा "छल" को एक और संचारी मानना आदि। अलंकारों में केशव, भूषण और दास ने कुछ नवीन अलंकारों की उद्भावनाएँ की हैं, जो केवल नाममात्र के लिए नवीन हैं। इनका आधार कहीं-न-कहीं संस्कृत काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में ढूंढा जा सकता है। रीतिकालीन आचार्यों ने रीतिकाल के कवियों के ऊपर अपने काव्य-प्रयोजन और हेतु के लक्षण प्रस्तुत करते समय आलोचनात्मक-दृष्टि डाली है। यह विवेचन इनका मौलिक कहला सकता है, अपने ग्रन्थ में भाषा-सम्बन्धी विचार भी प्रस्तुत किए हैं, इसे भी मौलिकता में अन्तर्निहित किया जा सकता है।

वस्तुतः कहा जा सकता है कि रीतिकाल का विवेचन "संस्कृत-काव्यशास्त्र की प्रौढ़ता की तुलना में अत्यन्त सामान्य है। उसमें विषय प्रतिपादन की गम्भीरता का अभाव है। ये अभाव गद्य भाषा के परिनिष्ठित न होने के कारण है। पूरे रीति-ग्रन्थों में उत्तरकालीन रीति-ग्रन्थ फिर भी शास्त्रीय-विवेचन की दृष्टि से किंचित् सूक्ष्म और प्रौढ़ हैं। इनमें विवेचन तथा विषय के अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ निरूपण की क्षमता है।

अर्थात् यह निर्विवाद सत्य है कि रीति-ग्रन्थो में भले ही मौलिक प्रतिपादन न हुआ हो, इतना तो निश्चित ही है कि इन ग्रन्थों ने पहली वार हिन्दी-साहित्य में व्यवस्थित काव्यशास्त्रीय-विवेचन के द्वार को खोला। इसी रूप में इन ग्रन्थों को देखा जाना चाहिए और मूल्यांकन भी किया जाना चाहिए।

—०—

मुरार (ग्वालियर)
६/४/३८

प्रिय द्विवेदी जी,

आपका कृपापत्र 'वि०भा०' से लौटकर प्राप्त हुआ। इस कृपा के लिए हृदय से [illegible] हूँ।

वास्तव में मैं शांतिनिकेतन को बहुत प्यार करता हूँ और उसको सौभाग्यशाली समझता हूँ कि उसे आपके रूप में एक ऐसा कर्मठ सेवक मिला है जिसके प्रयत्नों से उसका हिंदी के [illegible] साहित्यकारों से आत्मीय संबंध होने जा रहा है।

शांतिनिकेतन की ओर से आशीर्वाद की सेवा और स्वागत-सत्कार के लिए यदि मैं इस अवसर पर उपस्थित हो सकता तो अपना अहोभाग्य समझता, पर कुछ व्यक्तिगत तथा कौटुंबिक कठिनाइयों के कारण इस समय घर छोड़ने में असमर्थ हूँ। इसके लिए मैं आपसे सादर क्षमाप्रार्थी हूँ।

शेष कुशल है। आशा है, आप प्रसन्न हैं। ~~कृपा लिखिएगा।~~ योग्य सेवा लिखते रहिएगा।

विनीत--
जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' : हजारी प्रसाद द्विवेदी।

अल्मोड़ा

५ मई [illegible]

प्रिय द्विवेदीजी,

आपके कृपा-पत्र के लिए धन्यवाद।

मैं बाहर [illegible] से लौटकर घर आ गया हूँ। शान्ति-निकेतन आने का विचार मेरा अवश्य है, पर [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

कृपा रखिए –

आपका

[illegible]

सुमित्रानन्दनपन्त : हजारी प्रसाद द्विवेदी।

मध्यकालीन योरोप का एक विश्वविद्यालय : बोलोन्या

श्रीमती इन्द्राणी दास

मानवेतिहास के प्रत्येक युग में कुछ वांछित, कुछ प्रशंसनीय और कुछ अवांछित और निन्दनीय घटनाएँ घटती हैं। मध्यपुग के योरोपीय समाज की संकीर्णता, सीमाबद्धता, सर्वसमाच्छन्न अज्ञानता और कुसंस्कार की निर्लज्ज कहानी सर्वजनग्राह्य है। पर दूसरी ओर मानव समाज के उत्थान में इस युग के असाधारण अवदान की बात कैसे भुलाई जा सकती है। प्राचीनकाल की ज्ञान-ज्योति को हम तक सुरक्षित और समृद्ध रूप तक पहुँचाने में इस युग की चेष्टा अविस्मरणीय है। आज के योरोपीय विश्वविद्यालयों की नींव इस 'अंधकारमय' कुसंस्काराच्छन्न मध्ययुग में ही पड़ी थी। ऐसे ही एक विश्व-विद्यालय की स्थापना के प्रथम युग को प्रकाश में लाने की चेष्टा इस निबन्ध में की गई है।

मध्यकाल में सृजित जिन प्रतिष्ठानों ने आज के जीवन में अपरिहार्य और उल्लेख-नीय स्थान बना लिया है, विश्वविद्यालय उनमें से एक है। विश्वविद्यालय और उसकी देन बुद्धिवाद, जो कि आज पाश्चात्य संस्कृति का एक उज्ज्वल अंग बन गया है,—मध्ययुगीन परम्परा की देन है। इन विश्वविद्यालयों में ही सर्वप्रथम विज्ञानचर्चा की शुरुआत हुई। यहीं सर्वप्रथम असंलग्न, असंबद्ध और विच्छिन्न रूप से ज्ञान की चर्चा के स्थान पर सुसंबद्ध, युक्ति-तथ्य आधारित मननशीलता और संनियमित शृंखलित अनुसन्धान रीति का प्रचलन भी हुआ। यह बात अस्वीकार्य है कि योरोप के मध्य-कालीन विश्वविद्यालयों में प्राच्य के प्राचीन विश्वविद्यालयों की झलक मिलती है जो कि इसलामी संस्कृति के अविच्छेद्य अंग बन चुके थे। हमारे देश में नालंदा-तक्षशिला आदि विश्वविद्यालयों की धारा अविच्छिन्न नहीं रह पाई और हमारे देश के विश्वविद्यालयों को हमें अंग्रेजी सभ्यता के अनुग्रह के दान के रूप में मान लेना पड़ता है।

योरोप में इसलाम के आगमन से अरब की संस्कृति का प्रभाव उस देश के शिक्षा-प्रतिष्ठानों पर भीं पड़ा। अरबी पण्डित धर्मसम्मतशास्त्र—जैसे अलंकार शास्त्र, व्याकरण, इतिहास और धर्मशास्त्र, साहित्य, परिमापणविद्या आदि की चर्चा के साथ

ही प्राचीनपन्थी रुढ़ीवादी द्वारा विरोधित-विज्ञान दर्शन और गणित की चर्चा भी करते थे। प्रतिकूलता को अनदेखी करते हुए वे विज्ञान के क्षेत्र में ग्रीक पण्डितों की, विशेषरूप से अरस्तू की रचनाएँ, चिकित्साशास्त्र और नव्य अफ़लातूनी पण्डितों की रचनाओं का गंभीर अध्ययन करते थे। प्राचीनकाल के इन मनीषिओं की रचनाओं में कालान्तर में वहत सी अकिंचित्‌कर—अवांच्छित रचनाएँ भी सम्मिलित हो गईं थीं। अल किन्दि, अल-फरवी, आवेसिन्ना, इब्न वाज्जा आदि अरबी पण्डित—प्राचीन ज्ञानैश्वर्य के पुनरुद्धार में व्रती हुए थे, उन्होंने योरोप के अन्य पण्डितों का भी पथ-प्रदर्शन किया था। धर्म की विभिन्नता के उपरान्त दो भिन्न संस्कृतियों के मनीषिओं में ज्ञान के आदान-प्रदान में कोई बाधा न थी। योरोप के कइ शहरों में, राजसभा या मठ को केन्द्र वनाकर इस प्रकार ज्ञानान्वेषण और आदान-प्रदान के पीठ स्थापित हुए थे इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश आगे चलकर विश्वविद्यालयों की नींव डालने में सहायक हुए थे।

पश्चिम योरोप की इस परिवर्तित आवोहवा से ख्रीस्तानी धर्म-प्रतिष्ठान खुश नहीं थे। धर्मयाजकगण नयी शिक्षा, नये ज्ञान की चर्चा, विशेष रूप से ग्रीक विज्ञान और तर्कशास्त्र के विरुद्ध थे, क्योंकि ये विधाएँ जागतिक थीं और जनसाधारण को धर्म-विमुखता की ओर ले जा सकती थीं, इन शिक्षा प्रतिष्ठानों पर चर्च का कोई नियंत्रण भी न था। ओर विद्याचर्चा के इस प्रवल वेग को रोकने की क्षमता भी धर्मपुरोहितों के पास न थी। पर कालान्तर में चर्च के बढ़ते प्रभाव और वैभववृद्धि के साथ ही उन्हे शिक्षित, न्यायशास्त्रवेत्ता और सम्पत्ति की देख-रेख करनेवाले लोगों की जरुरत पड़ने लगी और इसीलिए परवर्ती युग में चर्च के उद्योग से ही कई विश्शविद्यालयों की स्थापना हुई और क्रमशः शिक्षा व्यवस्था पर चर्च का नियंत्रण भी कायम होता गया। चर्च के इस उद्योग के साथ ही समाज का और एक भिन्न प्रकार का प्रयोजन भी जुड़ा था। योरोप के विभिन्न प्रान्तों में वदलती आवोहवा में राजा, जमींदार या अभिजात भूस्वामी, नवोदित क्षमतावान नगरों की वैषयिक ओर वाणिज्यिक स्वार्थरक्षा के लिए लातिनज्ञ, आरवनवेत्ता, कूटनीतिज्ञ, चिकित्सक और दलिल दस्तावेजों को सम्मालने (मुसाविदा) लायक शिक्षित जनों की अधिक संख्या में जरुरत थी। इसके अतिरिक्त साधारण जनों में ग्रीक और अरवी चिकित्सा-विज्ञान के ज्ञान ने चिकित्सक सम्प्रदाय को उभारा। इन सव विचित्र-विविध प्रयोजन-प्रभावों ने मिलकर प्रथम विश्वविद्यालयों की स्थापना को त्वरान्वित किया था। यद्यपि इन प्रथम युगीन विश्वविद्यालयों में परवर्ती युग के संगठित विश्वविद्यालयों की झलक देख पाना मुश्किल है। 'विश्वविद्यालय' शब्द का व्यवहार भी वहुत वाद में शुरु हुआ था। 'Universitas' शब्द जो आज हम

विश्वविद्यालय के लिए व्यवहार करते हैं एक संघ या संस्था के लिए प्रयुक्त होता था और शिक्षा प्रतिष्ठानों के लिए 'Studium' शब्द प्रचलित था।

प्राचीनयुग के विभिन्न 'स्कूल' या अविरत विद्यानुशीलन के परम्परावाही-केन्द्र वाद में कभी कभी विश्वविद्यालयों को जन्म देते है—जैसे पेरिस, सालेनों, वोलोन्या और ऑक्सफोर्ड। और कहीं-कहीं केथिड्रल से जड़े शिक्षा प्रतिष्ठान विश्वविद्यालयों के स्तर पर पहुँच जाते हैं। कहीं सम्राट ने राजकीय विश्वविद्यालय की स्थापना की है तो कहीं जनसाधारण की वढ़ती जरूरतों को सामने रख कर जन्में विद्यालय धीरे-धीरे आगे चलकर विश्वविद्यालयों में रूपान्तरित हुए हैं। जो भी हो, हम पाते हैं कि ग्यारहवीं शती के वीच से वारहवीं शती के अन्त तक पहुँचते पहुँचते योरोप के जनजीवन में विश्वविद्यालयों ने अपना स्वतन्त्र और अपरिहार्य स्थान वना लिया था। यद्यपि विश्वविद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन का अधिकार केवल अभिजातश्रेणी और विशेष सुविधाभोगी श्रेणी तक ही सीमित था।

वोलोन्या मध्ययुगींन योरोप का सर्व प्राचीन विश्वविद्यालय माना जाता है। इसकी स्थापना किसने की या कैसे हुई—इसके वारे में कई मत प्रचलित हैं। सबसे अधिक महत्व रखती हैं यह मान्यता कि महामान्य सम्राट या महामान्य पोप दोनो में से किसी के द्वारा इस विश्वविद्यालय की नींव नहीं डाली गई थी। विश्वविद्यालय के क्रम विवर्तन में हम तीन महत्वपूर्ण अध्याय पाते हैं, जो नौ पीढ़ियों के शिक्षक और छात्रों तक विस्तृत है (प्रत्येक अध्याय लगभग तीन पीढ़ियों का है)—पेपो से लेकर ताद्देओ पेपोली तक। अनौपचारिक अध्याय जो विश्वविद्यालय की स्थापना से सम्राट प्रथम फ्रेडरिक वार्वारोस्सा के 'Habita' या विशेष सुविधापत्र प्रदान करने तक विस्तृत है। औपचारिक युग जिसमें विश्वविद्यालय को पहले सम्राट की ओर से और वाद में पोप की ओर से औपचारिक रूप से मान्यता मिलती है। इसीके साथ ही स्थानीय तत्वों के मुकावले में अध्यापक और छात्र संगठित होते हैं। न्यायशास्त्र के प्रतिष्ठानों की ख्याति बढ़ती ही जाती है और कला प्रतिष्ठानों की भी स्थापना होती है। अन्ततः तीसरे युग के इतिहास की शुरुआत होती है जब विश्वविद्यालय की क्रमिक अवनति शुरु होती है जव यह संस्था आंचलिकमात्र वन जाती है। पोप के आधिपत्य से निकलकर वोलोन्या पेपोली परिवार की अधीनता मान लेता है और विश्वविद्यालय के जीवन में भी परिवर्तन दीखता हैं।

पाश्चात्य रोमन साम्राज्य के पतन के बाद इटली के रोमान्या प्रदेश के अन्तर्गत रामेन्ना—जो कि पूर्वी रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत था—रोमन न्यायशास्त्र के पठन-पाठन का उल्लेखनीय क्रेन्द्र था। बोलोन्या के संग रामेन्ना के घनिष्ट सम्वन्ध थे और बोलोन्या में धीरे-धीरे रामेन्ना के अनुरूप एक न्यायशास्त्र अध्ययन के क्रेन्द्र की स्थापना हुई। किसी महत्वपूर्ण पदाधिकारी के आदेशपर नहीं, बल्कि शायद सामन्ततांत्रिक और नागरिक सभ्यता के विकासक्रम में न्यायशास्त्रवेत्ता शिक्षित मध्यवित्त लोगों की जरुरत ने ही स्वतः ऐसे विद्यालयों की सृष्टि की थी। कालान्तर में इन विद्यालयों ने विश्वविद्यालय का आकार ले लिया।

प्रारम्भिक युग में बोलोन्या में न्यायशास्त्र अध्ययन के ऐसे कितने प्रतिष्ठान थे यह कहना मुश्किल है, क्यों कि इस युग से सम्वन्धित प्रामाणिक तथ्यों का हमारे पास अभाव है। हम इतना ही जान पाए हैं कि ग्यारहवीं शती में (सम्भवतः १०८८ ई० में) पेपो या पेपोने जो रोमन न्यायशास्त्र के पण्डित थे, बोलोन्या में जस्टिनियन की Corpus Juris Civilis के अध्ययन-अध्यापन में व्यस्त थे। वे और उनके सहयोगी मूलतः टीकाकार थे, जस्टिनियन द्वारा संकलित समस्त रोमन Civil law के व्याख्याकार थे ये लोग। टीका-टिप्पणी और व्याख्या के अलावा ये अपने क्षेत्र में न्यायसभा की अध्यक्षता भी करते थे। पेपो की जीवनी हमें कहीं नहीं मिलती, पर उस युग की placito में उनका नाम मिलता है न्यायाधीश के तौर पर। उनके छात्र इर्नेरिओ या इर्नेरियस के बारे में भी हमें अधिक जानकारी तो नहीं है, पर फिर भी इर्नेरिओ का उल्लेख पेपो से कही विस्तृत रूप से हुआ है। इन्होंने सर्वप्रथम Corpus Juris Civilis की और उसकी टीका-टिप्पणी की व्याख्या की वैज्ञानिक और संगठित रूप से। अध्ययन-अध्यापन शुरु किया और समसामयिक मामलों में उनका उपयोग भी किया। इनके समय में ही बोलोन्या की प्रसिद्धि योरोप भर में फैल गई न्यायशास्त्र के अध्ययन क्रेन्द्र के रूप में। इर्नेरिओ के समय से ही बोलोन्या में Rhetoric या वाचन कला का अध्यापन भी शुरु हो गया था। इर्नेरिओ स्वयं Rhetoric का अध्ययन-अध्यापन करते थे। पेपों की नीति क्या थी यह तो पता नहीं चलता, पर पेपों के शिष्य इर्नेरिओ सम्राट के पक्ष में थे और सम्राट पञ्चम हेनरी पोप के विरोध में निर्वाचन की ठानते हैं और कुछ न्यायज्ञो को रोम भेजते है लोगों को समझाने के लिए कि नए पोप जेलासियस को वे पोप न माने। उन लोगों में इर्नेरिओ भी थे और कुपित पोप ने सबको Ex-Communicate किया। (१११९ ई०) हम अनुमान लगा सकते हैं कि इर्नेरिओ-उनके छात्र और प्रतिष्ठान पर कैसी विपत्ति टट

पड़ी होगी। एकमात्र सम्राट ही उनको ऐसी विपत्ति से उवार सकते थे पर सम्राट तव इटली से दूर थे और निरुपाय इर्नेरिओ को शिक्षणकार्य छोड़ना पड़ा। उनकी अनुपस्थिति में शायद उनके सुयोग्य छात्र उनके प्रतिष्ठान कों चलाते रहे। Ex-Communication वहुत दिनों तक नहीं टिका। ११२२ में Worms में आयोजित सम्मेलन में पोप और सम्राट के वीच का विभेद मिट गया और Ex-Communications भी वापस ले लिए गए और इर्नेरिओ एकबार फिर अपने शिक्षण कार्य में तल्लीन हो जाते हैं। इसके वाद भी हमें कई ऐसे उल्लेख मिलते हैं जहाँ इर्नेरिओ न्यायधीश के रूप में काम करते हैं। अव वोलोन्या Civil law के साथ-साथ Canon law या चर्च सम्वन्धित न्यायशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का केन्द्र भी वन चुका था। ११४० ई० के आसपास ग्रेसियन नाम के एक अध्यापक की Corpus Juris Civilis के आधार पर चर्च के सभी कानूनों को Corpus Juris Canonici शीर्षक ग्रन्थ में संकलित किया और कानूनों की टिप्पणी भी लिख कर समसामयिक धार्मिक मामलों में उनका व्यवहार भी किया गया। उनका ग्रन्थ Decretum के नाम से अधिक परिचित था। अबतक बोलोन्या में देश-विदेश से छात्र आने लगे थे और वोलोन्या शहर अपने विश्वविद्यालय के लिए प्रसिद्ध हो उठा था।

इस युग में अध्यापक की प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर अध्ययन के लिए छात्र आते थे। वे खद अध्यापक चुनते थे। अध्यापक और छात्र 'Societas' या पारस्परिक सौहार्द के वन्धन में वँधे थे। अध्यापक छात्रों को उपयुक्त शिक्षण देने का वचन देते थे और छात्र अपनी सामर्थ्य के अनुसार पारितोषिक देने के लिए वचनबद्ध होते थे। पारितोषिक निश्चित नहीं था। अध्यापक और छात्रों के वीच अलिखित चुक्ति थी और दोनों अपने वचन का निर्वाह करने की पूरी कोशिश करते थे। उनके सम्वन्ध बहुत अनौपचारिक थे। छात्रों को स्वयं अपने भोजन और आवास की व्यबस्था करनी पड़ती। शिक्षक Maestro के नाम से अभिहित होते थे और छात्र Scholar के नाम से। शिक्षक अपने शिक्षण कार्य के अतिरिक्त नागरिक न्यायालय में या अन्य अदालतों में न्यायाधीश का पद अलंकृत करते थे। विश्वविद्यालय—'Studio' या वहुवचन में Studi अर्थात अनेक विद्य.लयों के समाहार के रूप में परिचित था। छात्रों की वढ़ती संख्या वोलोंन्या शहर के लिए रोजगार की बढ़त थी। नगरसभा अध्यापक छात्रों को नागरिकों की समानता-सुरक्षा न देकर भी उनसे विभिन्न प्रकार के कर वसूलती थी। बाहर से आए अध्यापक —छात्र और नागरिक यथार्थतः आपस में घनिष्ट हो रहे थे, उनमें संघर्ष भी बढ़ रहा था। ११५८ ई० में इर्नेरिओं के चार सुयोग्य छात्र—आकोषो- मार्तिनो जोसुए, बुलगारो और उगो दि पौर्ता रामेन्ना रोंकाल्पा के अधिवेशन में बुलाये जाते है—

सम्राट के परामर्शदाता के रूप में। और इसी साल सम्राट फ्रेडरिक विशेष घोषणापत्र के माध्यम से बोलोन्या विश्वविद्यालय के अध्यापक और छात्रों को मध्य युग की घिनौनी परम्परा 'Represalia' से छूट देते हैं, साथही उनकी विशेष सुरक्षा और विशेष विचार व्यवस्था की घोषणा करते हैं। मध्ययुग की एक बहुत ही निन्दनीय प्रथा थी 'Represalia' अर्थात कोई विदेशी नागरिक अगर बोलोन्या के किसी व्यापारी से ऋण ले और ऋण चुकाए विना ही भाग जाए तो वह व्यापारी अपना पैसा उस विदेशी के अन्य स्वदेशियों से जवर्दस्ती वसूल कर लेता था। विदेशी छात्रों को अध्ययन के लिए अधिक समय के लिए बोलोन्या में रहना पड़ता था और ऋण न चुका कर भाग जाने वाले स्वदेशियों का ऋण चुकाना पड़ता था और फलस्वरूप वे अध्यापक को पैसे नहीं दे पाते थे। शहर के इस नियम से अध्यापक और छात्र दोनों परेशान थे। सम्राट फ्रेडरिक वार्वारोस्सा के घोषणा पत्र से विश्वविद्यालय के छात्र-अध्यापक खुश और आश्वस्त थे। इतिहास में पहलीवार किसी विश्वविद्यालय को ऐसी सुविधा मिली थी। सम्राट ने अध्यापक-छात्रों की सुरक्षा की भी अच्छी व्यवस्था की थी। फलस्वरूप बोलोन्या में छात्रों की संख्या वढ़ती गई। सम्राट के इस घोषणापत्र से एक अध्याय का अन्त हुआ। सम्राट का यह घोषणापत्र विश्वविद्यालय को प्रशासनिक मान्यता मिलने का द्योतक था। विशेष सुविधाओं के साथही अन्य अनेक असुविधाएँ भी आ खड़ी हुईं और घटनाओं ने नया मोड़ लिया।

क्रमशः अध्यापकों और छात्रों के वीच का अनौपचारिक घनिष्ट सम्पर्क नष्ट होता गया। अध्यापक कभी कभी बोलोन्या शहर छोड़कर चले भी जाते थे। हम छात्रों को क्रमशः संघबद्ध होकर परिस्थितियों का सामना करते देखते हैं। 'Societas' या 'Societates' के स्थान पर 'Uuiversitates' या छात्रों के दो संगठन उभरते हैं— इटली प्रायोद्वीप के वासिन्दा 'Universitates Citramontarum' और आल्पस् पार के विदेशी छात्र 'Universitas Ultramontarum' नाम के दो संगठनों में बँट गए थे। दोनों संगठनों के दो 'rector' या नेता चुने जाते थे। १२ वीं शती के अंत तक छात्रों के संगठन 'Universitates' काफ़ी सक्षम वन चुके थे।

११५८ ई० के सुविधापत्र या 'Habita' के अनुसार विश्वविद्यालय के अध्यापक और छात्रों के विचार के लिए Civillas के अध्यापक द्वारा 'domini' नामके एक विशेष, न्यायालय की स्थापना हुई, जिसके न्यायाधीश थे शहर के विशाप या धर्माध्यक्ष, और सर्वप्रथम इस

प्रकार विश्वविद्यालय के जीवन में धार्मिक प्रतिष्ठानों के हस्तक्षेप की शुरुआत हुई। लक्ष्यणीय है कि 'Habita' में maestri के स्थान पर 'Professorias' का उल्लेख हुआ है जो वदलते समय का साक्षी है। अध्यापक धीरे धीरे 'doctor' को उपाधि का व्यवहार करने लगते हैं और छात्रों को भी शिक्षान्त में ऐसी उपाधि मिलती है। छात्रों के दो संगठन मिलकर एक गोष्ठी 'Universitas Scholarium' में वदल जाते हैं और दो छात्र rector की जगह ले ली Counsellor या परामर्शदाताओं ने। छात्र और उनके अध्यापक 'domini' के वीच धीरे धोरे तनावपूर्ण स्थिति की शुरुआत होती है। स्थानीय क्षमता, सम्राट और पोप दोनों के हस्तक्षेप आदि से विश्वविद्यालय और उसके जीवन में तनावपूर्ण स्थिति पैदा होती है। कभी कभी अध्यापक एक शहर छोड़ कर दूसरे शहर में जाकर अध्यापन शुरु करने को वाध्य हो जाते थे। इससे विश्वविद्यालय में गड़वड़ी फैल जाती थी। विश्वविद्यालय के जीवन में नागरिक समुदाय का प्रभाव क्रमशः वढ़ता जाता है। नागरिक पंचायत कानूनन अध्यापकों को शहर न छोड़ने की शपथ लेने पर बाध्य करती है और नागरिक विचारसभा में भाग लेने के लिए मासिक वेतन या माहवार की व्यवस्था करती है। अध्यापक अपनी स्वाधीनता खो वैठते हैं और क्रमशः नागरिक पंचायत के वेतनभोगी मात्र बन कर रह जाते हैं। फलतः विश्वविद्यालय के स्वरुप में भी वदलाव नजर आता है। विश्वविद्यालय में 'Studio' की जगह 'Collegio' की संख्या में वृद्धि होती है। चिकित्सा विज्ञान, दर्शन, धर्मशास्त्र आदि नए विषयों के अध्ययन—अध्यापन की शुरुआत होती है। और विश्वविद्यालयों में शृंखला कायम रखने के लिए नए नए नियम बनाए जाने लगे और तेरहवीं शती तक पहुँचते पहुँचते विश्वविद्यालय का प्रारम्भिक स्वरूप विलकुल वदल गया।

विश्वविद्यालय के इतिहास में ११५५ ई०—११५८ ई० तक सम्राट फ्रेडरिक वार्वारोस्सा का महत्वपूर्ण हस्तक्षेप दीख पड़ता हैं। सम्राट के सुविधापत्र के माध्यम से विश्वविद्यालय की सम्मान-प्रतिष्ठा निस्सन्देह ही वढ़ जाती है। सम्राट ने इस विश्वविद्यालय के अध्यापक छात्रों को जो विशेषाधिकार और विशेष सुरक्षा दी थी वह तब के और किसी भी विश्वविद्यालय को नहीं दी गई थी। इस विश्वविद्यालय के अध्यापक और छात्र स्वाभाविक रूप से ही सम्राट के पक्ष में हो गए थे। पर कुछ ही सालों में इतिहास नया मोड़ लेता है। सम्रांट का रुख वदल जाता है। १२२४ ई० में सिसिलि के साम्राज्य को पुनः संगठित करते समय फ्रेडरिक वार्वारोस्सा के उत्तराधिकारी फ्रेडरिक द्वितीय नेपल्स में एक राजकीय विश्वविद्यालय की स्थापना करते हैं। जिसके पीछे साहित्य-संस्कृति-विज्ञान आदि के विस्तार का उद्देश्य गौण था—मुख्य था अपने राज्य के

लिए योग्य अधिकारी निर्माण करना—यह सहज ही अनुमेय है कि नेपल्स विश्वविद्यालय की स्थापना से वोलोन्या विश्वविद्यालय और वोलोन्या शहर को कितनी बड़ी आर्थिक क्षति का सामना करना पड़ा होगा। छात्रों की संख्या में भारी मात्रा में कमी आ गई होगी—दक्षिण इटली को छात्र खोना पड़ा होगा। एक ही साल में वोलोन्या के कम्यून और सम्राट के बीच सम्पर्क बिगड़ जाता है और वोलोन्या सम्राट के विरुद्ध १२२६ ई० के प्रथम और १२३५—१३५० ई० तक द्वितीय Lombard League में शामिल हो जाता है। सम्राट आदेश देते हैं कि League से जुड़े सभी शहरों के प्रतिष्ठान बन्द कर दिए जाएँ। अध्यापक-छात्रों से भी उन्होंने अनुरोध किया कि वे उन शहरों के शिक्षा प्रतिष्ठान छोड़कर उनके द्वारा स्थापित विश्वविद्यालय में आकर योग दें। वोलोन्या बासियों के के लिए विश्वविद्यालय के अध्यापक और छात्र जिससे आर्थिक नुकसान न सहें इसीलिए सम्राट ने उन्हें भी नेपल्स आकर बसजाने का आमंत्रण दिया, उल्लेखनीय है कि इसी समय वोलोन्या के कुछ छात्र और अध्यापक कम्यून शहर के साथ झगड़ कर वोलोन्या छोड़कर पाडुंया चले गए थे और विश्वविद्यालय दुर्वल हो गया था। दुर्बल विश्वविद्यालय के छात्र अध्यापक कम्यून का साथ न छोड़ सके और कई सालों तक सम्राट और विश्वविद्यालय के बीच कोई सम्पर्क नहीं रहता है। और बोलोन्या विश्वविद्यालय ने सम्राट का विरुद्धाचरण करके अपनी सुरक्षा और विचार के विशेषाधिकार खो दिए थे। अब कम्यून के नियम पूर्णतः विश्वविद्यालय पर भी लागू थे।

इसप्रकार शिक्षा प्रतिष्ठान भी शहर की राजनीति के चक्कर में पड़ गये और विश्वविद्यालय के जीवन में एक अभावनीय तनाव की स्थिति पैदा हो गई। अध्यापक छात्रों का एक ओर बोलोन्या न छोड़ने की शपथ की वाध्यता थी तो, दूसरी ओर क्रोधित सम्राट द्वारा फैलाए गए कुख्याति की आख्या थी। बड़ी ही विचित्र स्थिति में और कई साल गुजर गए और अन्ततः १२५० इ० में सम्राट की मृत्यु के साथ ही इस दुर्दशापूर्ण अध्याय की समाप्ति हुई। इसी के साथ ही विश्वविद्यालय के साथ सम्राट के सम्वन्धों की भी समाप्ति हुई। एक नए महत्त्वपूर्ण अध्याय की सूचना हुई जिसमें विश्वविद्यालय पर पोप और धार्मिक नेताओं का आधिपत्य रहा।

हमने पहले ही देखा था कि १२ वीं शती के मध्यकाल में ही Civil law के समान्तराल रूप से धर्म प्रतिष्ठान सम्वन्धित न्यायशास्त्र का पठन पाठन शुरु हुआ था और ग्रेसियन ने अपने अध्यापक से, कानूनों को पुस्तकाकार में संकलित करके उन पर

टिप्पणी लिखकर—इस विद्या को बहुत ही प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण बना दिया था। योरोप के विभिन्न प्रान्तों से याचक यहाँ अध्ययन के लिए आने लगे और स्वाभाविक रूप से धर्माधिकारियों और पोप से इस प्रतिष्ठान का सम्वध घनिष्ट होता गया। जव यहाँ के प्राक्तन छात्र तृतीय आलेकजाण्डर पोप निर्वाचित हुए वोलोन्या के शिक्षा-प्रतिष्ठान के साथ धर्माधिकारियों का सम्पर्क और भी घनिष्ट हुआ। इसके बद यहाँ के अध्यापक आलवेर्तो मोर्रा ११८७ ई० में ग्रेगोरी अष्टम के नाम से पोप निर्वाचित हुए। उन्होंने तृतीय क्रीमेन्ट के हस्तक्षेप से छात्रों के आवास और भोजन के लिए एक निर्दिष्ट राशि स्थिर कर दिया। यहाँ के प्रसिद्ध धर्मशास्त्रवेत्ता अध्यापक उगुच्चोने दा पिसा के छात्र पोप इनोसेन्स तृतीय, औपचारिक ढंग से पूरे योरोप में धर्मशास्त्र अध्ययन के प्रतिष्ठानों में इसका महत्वपूर्ण स्थान घोषित करते हैं और यहाँ के अध्यापक छात्रों को अध्ययन के लिए धार्मिक कानून सम्वधी अपना संकलन ग्रन्थ Decretum की प्रति भी भेजते हैं। पर तृतीय होनोरियस के पोपत्व के काल में धर्मप्रतिष्ठान का विश्व-विद्यालय के जीवन पर सर्वाधिक प्रभाव रहा। उन्हीं के पोपत्व में विश्वविद्यालय भी शहर के साथ पहली वार लोम्वार्ड लीग में शामिल होता है। धर्मप्रतिष्ठान और धर्मा-धिकारियों का यह महत्व विश्वविद्यालय के जीवन में क्रमशः बढ़ता ही जाता है और अन्ततः बोलोन्या १२७८ ई० में पोप के साम्राज्य में अन्तर्भुक्त कर किया जाता है। वोलोन्या शहर के साथ ही उसके विश्वविद्यालय पर भी पोप का न केवल धर्माध्यक्ष के रूप में वल्कि एक प्रशासक सम्राट के रूप में प्रभाव बना रहता है। चौदहवीं शती के हमें ऐसे कई आदेश-पत्र मिलते हैं जिनसे बोलोन्या में पढ़ रहे विभिन्न पादरियों को धर्मप्रतिष्ठानों से दूर रहते हुए भी विशेष सुविधा की व्यवस्था दी गई थी। पंचम क्लीमेन्ट, द्वादश गॉन, षष्ठ क्लीमेन्ट, षष्ठ इनोसेन्स और पञ्चम उरवान आदि पोपों के आदेशपत्रों की भरमार ने विश्वविद्यालय को पोप-कृपा-धन्य एक विशेष प्रतिष्ठान के रूप से चिह्नित किया था। इसीं कारण पादरी-छात्रों की संख्या स्वभावतः ही बढ़ गई थी।

तेरहवीं—पन्द्रहवीं शतियों में विश्वविद्यालय और कम्यून के वीच एक समझौता हुआ। कम्यून ने विश्वविद्यालय के अध्यापक और छात्रों की माँगे पूरी की। आवासों का किराया निर्द्धारित किया, खाद्यसामग्री की कीमत भी बाँध दी। पुस्तक विक्रेताओं को नियंत्रित करके पुस्तक के दाम भीं निर्धारित कर दिए गए। अध्यापकों पर भी कम्यून का नियंत्रण रहा क्योंकि अबतक वे कम्यून के वेतन भोगी वन चुके थे। वार्षिक परीक्षा के अलावा अध्यापकों के पास और कोई क्षमता न थी। साथ ही छात्र संगठनों की क्षमता भी कम गई थी। छात्रों को शिक्षक निर्णय करने का अब कोई अधिकार न था। कम्यून

ही उनके लिए अध्यापक नियुक्त कर देती थी। छात्र कम्यून को पढ़ने के लिए निर्धारित मूल्य देते थे। उसीके संकलन से अध्यापकों को वेतन मिलता था। विश्वविद्यालय के अध्ययन कार्यक्रम में नूतन विषयों की अन्तर्भुक्ति से विश्वविद्यालय में न्यायशास्त्र विभाग के आदर्श पर कला विभाग की स्थापना हुई और कला विभाग के छौत्रों का एक अलग संगठन खड़ा हुआ। चिकित्साविज्ञान भी इस युग में कला विभाग के अन्तर्गत था।

तेरहवीं शती के अंत से ही शहर में धार्मिक परिवारों द्वारा विभिन्न गिर्जों का निर्माण-कार्य शुरु हुआ। स्थानीय कलाकारों ने उनकी सजावट में कोई कसर नहीं छोड़ी। भिताले, जाकोपिनों, सिमोने, लिप्पो आदि महत्वपूर्ण कलाकारों ने बोलोन्या में चारु-कला के प्रसिद्ध प्रतिष्ठानों की स्थापना की थी। विभिन्न गिर्जों में काम करते वक्त वे छात्रों और सहयोगियों को शिक्षा भी देते थे पर उनका शायद विश्वविद्यालय से कोई सम्बन्ध नही था। १३९० ई० में विराट गिर्जाघर (Basilica) सान पेत्रोनियो का निर्माण कार्य कम्यून के आदेश-निर्देश पर समाप्त हुआ। जो कि कम्यून की स्वाधीन सत्ता का प्रतीक स्वरूप है। पर कम्यून की स्वाधीनता बहुत दिनों तक स्थायी नहीं रही। मिलान के विसकोन्ती से कई साल की लड़ाई के बाद (कुछ ही समय के लिए वे बोलोन्या पर राज्य कर पाए थे) बोलोन्या पर वेन्तिभॉल्यो परिवार का आधिपत्य हो गया। पूरी पन्द्रहवीं शती में वेन्तिभॉल्यो परिवार का बोलोन्या पर शासन कायम रहा। वेन्तिभॉल्यो शासक स्वैराचारी थे पर उनके शासनकाल में बोलोन्या की उन्नति हुई और शान्तिपूर्ण वातावरण बन रहा। विश्वविद्यालय की स्वाधीनता इस समय पूरी तरह से खत्म हो चुकी थी और अध्यापन कार्य पारिवारिक धन्धा बन कर रह गया था। योरोप में दूसरे विश्वविद्यालयों की स्थापना से बोलोन्या का महत्व भी कम हो गया था यह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर से उतर कर प्रान्तीय बन गया था।

पोप द्वितीय जुलियस ने १५०६ ई० में बोलोन्या से वेन्तिभॉल्यो परिवार को निकाल बाहर किया और अपना अधिकार स्थापित किया। इस समय एक मिश्र शासन व्यवस्था चलती है, जिससे पोप की रोमन लेगेट (Roman Legate) शहर की सैनेट-के अनुमोदन के बिना कुछ भी नहीं कर सकती थी। १५६३ में बोलोन्या में एक बहुत ही बड़ी और सुन्दर इमारत बनाई गई (archigymnasium) जो विभिन्न विषयों के अध्यापन का केन्द्र बन जाता है जिससे अध्यापन कार्य पर भी कम्यून का नियंत्रण हो जाता है क्योंकि इसके पहले अध्ययन-अध्यापन शहर के विभिन्न कोनों में विशेष रूप से अध्यापकों के घरों में फैला था। बोलोन्या पोप के साम्राज्य का अंग

वन जाने से अवश्यम्भावी परिवर्तनों के प्रतिफलन से दूर हो गया। यद्यपि परम्परागत शिक्षण-अध्ययन धारावाहिक रूप से चलता ही रहा और प्रशासन के पदों के लिए अधिकारियों को प्रस्तुत करता रहा। पुनर्जागरण की भावना, नए नए-प्रयोगों की चेष्टा, नवोन्मेषित विज्ञान-भावना का विकास सभी कुछ, मात्र कुछेक प्रत्तिष्ठानों (academies) में सिमट कर रह गया था। विश्वविद्यालय अपने प्राचीन वैशिष्टयपूर्ण अध्याय का अवशेष मात्र बना रह गया था। और सोलहवीं शती में ही केवल एक महत्त्वपूर्ण वदलाव दीखता है। पहलीवार इसमें साधारण श्रेणी का प्रवेशाधिकार मान लिया जाता है। अव तक विशेषाधिकार-प्राप्त श्रेणी के छात्र ही यहाँ पढ़ने के लिए भर्ती हो सकते थे और इसी के साथ आधुनिक युग की समस्याँए विश्वविद्यालय के सामने आती हैं—विश्वविद्यालय श्रेणी-विभेद हीन छात्रों को शिक्षित करता है, जिनके सामने काम मिलने की सुविधा सीमित है। पर यह तो आज की यथार्थता है, जो आगामीकाल का इतिहास बनेगा। तव तक वोलोन्या विश्वविद्यालय ज्ञान के प्रसार में निरन्तर लगा रहेगा।

—०—

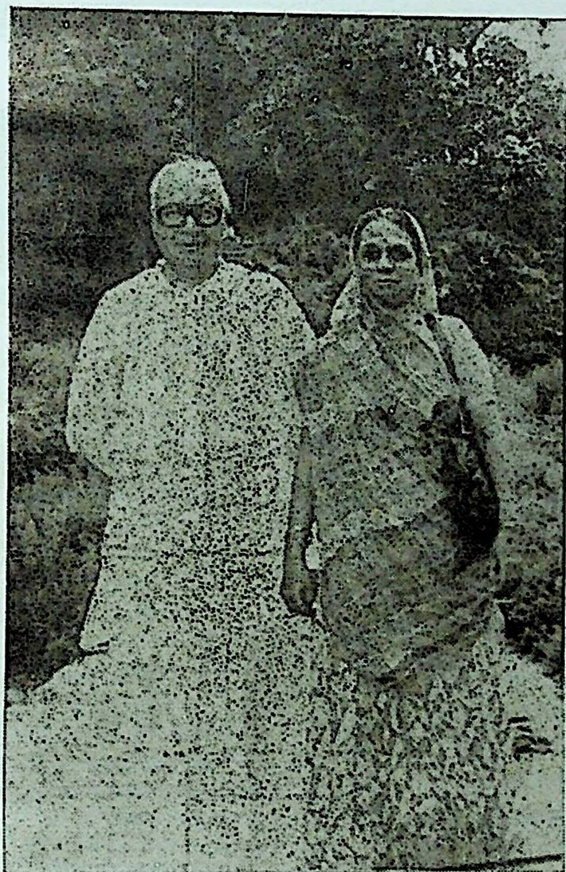
पुरुषोत्तम दास हलवासिया

आपका ९ मई १९२१ ई० को राउरकेला के निकट पानयोस (उड़िसा) में स्वर्गीय कालूराम खेतान के घर जन्म हुआ। जब आप ४ वर्ष के थे, तभी मोतीलाल जी हलवासिया की अकस्मात् मृत्यु के उपरांत उनकी पत्नी ने आपको दत्तक ले लिया। आपने कलकत्ते में ही विद्यासागर कालेज से इण्टरमीडियेट (प्रथम वर्ष) तक शिक्षा प्राप्त की। विद्यार्थी जीवन में स्काउटिंग, साहित्य-प्रतियोगिता, कविता-पाठ एवं नाटकों में भाग लेते रहे, साथ-साथ लेख एवं कविता भी लिखते रहे। जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते थे। १३ वर्ष की अल्पायु में ही आप मारवाड़ी सभा पुस्तकालय के मन्त्री हो गये। विद्यालयीन शिक्षा पाई—श्रीविशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय एवं श्रीमाहेश्वरी विद्यालय में। १९३६ में कलकत्ता विश्वविद्यालय की दसवीं परीक्षा पास की।

१९३७ ई० में आप ने वस्त्र व्यवसाय में प्रवेश किया, फिर १९४३ ई० में शेयर बाजार में अपनी क्षमता दिखलाई। उद्योग क्षेत्र में पाईप फैक्टरी बैठाई और बोरों का उत्तम निर्यात किया। ग्रेफाईट एवं खनिजों का भी आपका अच्छा व्यवसाय है।

आप कर्मठ एवं विचारवान व्यक्ति हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के आप तरुणावस्था से ही सदस्य हैं। भारतीय संस्कृति एवं हिन्दी भाषा के उन्नयन में आप सतत् प्रयत्नशील रहते हैं।

१९४३ ई० से ही आप अपने सुविख्यात पैतृक न्यास "हलवासिया टस्ट" के संयोजक ट्रस्टी हैं, जिसके द्वारा प्रति वर्ष देश भर की सार्वजनिक एवं धार्मिक सेवा संस्थाओं को लाखों रुपयों का अनुदान दिया जाता है। १९४६ ई० में आपने "आर्यावर्त प्रकाशनगृह" स्थापित किया, जिसके माध्यम से सत्-साहित्य प्रसार के साथ कई लोकोपयोगी ग्रंथ प्रकाशित किये गए। उसी वर्ष आपने "आर्यावर्त संस्कृति संसद" स्थापित की जो कालान्तर में "भारतीय संस्कृति संसद" बन गई। हरियाणा छात्र परिषद (१९६१ ई०), कलकत्ता नागरिक संघ एवं देवालय संरक्षण समिति (१९६२ ई०) की स्थापना में आपने मुख्य रूप से भाग लिया। १९६२ ई० में ही "जन कल्याण ट्रस्ट" की स्थापना कर आपने भिवानी में हलवासिया 'बाल मंदिर' एवं 'हलवासिया विद्या विहार' की स्थापना की, जिनमें २००० छात्र-छात्राएँ अध्ययनरत हैं।



श्रीपुरुषोत्तम दास हलवासिया
एवं
श्रीमती सावित्री हलवासिया

आप विभिन्न सार्वजनिक एवं सामाजिक सेवा संस्थाओं से सक्रिय रूप में सम्बद्ध हैं, यथा—कलकत्ता पिंजरापोल सोसाइटी, विशुद्धानन्द सरस्वती मारवांड़ी अस्पताल, मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी, अखिल भारतबर्षीय मारवाड़ी सम्मेलन, बाबा काली कमली-वाला पंचायत क्षेत्र आदि। हरियाणा चेरिटेबुल ट्रस्ट के आप उपाध्यक्ष रह चुके हैं। सार्वजनिक संस्थाओं पर एकाधिपत्य जमानेवालों के आप विरोधी तथा सेवाभावी कार्यकर्ताओं के प्रति संवेदनशील हैं।

१९३९ ई० में शान्तिनिकेतन में "हिन्दी-भवन" की स्थापना आपके ट्रस्ट से हुई, जिसमें 'हलवासिया भाषण माला' एवं 'हलवासिया शोध ग्रंथ माला' का प्रारंभ किया गया। इस योजना में हिन्दी भाषा के अनेक श्रेष्ठ शोध ग्रंथों का प्रकाशन आपकी प्रेरणा से हो रहा है। शिक्षा पद्धति में मौलिक परिवर्तन के आप पक्षधंर हैं तथा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अपना दृष्टिकोण प्रकट करते रहते हैं।

भारतीय राजनीति में आप राष्ट्रबाद के पक्षधर हैं। भारतीय जनसंघ के प्रतिनिधि के रूप में आपने पश्चिम बंगाल विधान सभा के निर्वाचनों में भाग लिया। १९४८ ई० एवं १९६४ ई० में आपने जेल यात्रा भी की। हरियाणा प्रदेश के निर्माण हेतु जो आन्दोलन हुआ, उसमें आप विशेष सक्रिय रहे। भारतीय भाषा परिषद पूर्वांचल में हिन्दी की प्रतिनिधि संस्था के संस्थापकों में से आप एक हैं। आपने श्रीविशुद्धानन्द सरस्वती मारवाड़ी अस्पताल के प्रबन्ध-मंत्री के पद को सफलतापूर्वक अलंकृत किया है। समाज, शिक्षा एवं संस्कृति में आई विकृतियों को दूर करने के लिए आप का अथक प्रयास अनुकरणीय है।

—'बड़ा बाजार के कार्य विवरण', पुस्तक से साभार,

हिन्दीभवन की स्थापना के समय से ही पुरुषोत्तमदास जो का उसके साथ सक्रिय सहयोग-संपर्क रहा है। विश्वभारती की अनेक विद्वद्गोष्ठियों में उन्होने भाग लिया है। विश्वभारती ने वर्षों पूर्व निर्णय लिया कि विश्बभारती पत्रिका का एक विशेषांक "मध्ययुगीन भारत की संस्कृति" विषयक प्रकाशित किया जाय और उसे 'पुरुषोत्तम दास हलवासिया अभिनंदन' के रूप में स्वीकार किया जाय।

ईश्वर से हमारी प्रार्थना है कि हलवासिया दंपति शतायु हों और देश की सेवा करते रहें।

रामसिंह तोमर

१४. ११. १९९९

सम्पादक की ओर से—

हिन्दीभवन के जन्मलग्न से ही इसके साथ हलवासिया एस्टेट, कलकत्ता का वड़ा ही घनिष्ठ तथा प्रोत्साहक संपर्क रहा है। श्री विश्वेश्वर लाल जी हलवासिया द्वारा अर्जित संपदा से ही हलवासिया बन्धुओं की स्मृति में 'रायवहादुर विश्वेश्वर लाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट' की स्थापना हुई थी। ट्रस्ट ने हिन्दीभवन-गृह निर्माण के लिए सोलह हजार रुपये दिये थे। तभी से हिन्दीभवन की उन्नतिपरक योजनाओं में ट्रस्ट भाँति-भाँति से सययोग देता आ रहा है। इस सन्दर्भ में हिन्दीभवन-परिसर में आवश्यक गृहनिर्माण, हलवासिया शोधग्रंथमाला संस्था के श्रीगणेश आदि की अपनी अलग महत्ता है। हिन्दी-भवन में शोधकार्यों के लिए वृत्ति तथा शोधकृतियों के प्रकाशन के लिए आर्थिक सहयोग मिलता रहता है। इस तरह से हिन्दीभवन हिन्दी-पत्रिका तथा हिन्दी शोधकार्यों के साथ सक्रिय रूप से संपृक्त रह कर जिन हलवासिया वंधुओं ने सहमर्मी तथा सहयोगी के रूप में प्रारंभ से अव तक हिन्दी-भवन के अग्रगमन में हमें प्रोत्साहित किया है तथा मार्ग को सुगम बनाया है, उनके प्रति श्रद्धा निवेदन के रूप में हिन्दी विश्वभारती पत्रिका का एक 'मध्य-युगीन विशेषांक' प्रकाशन का निश्चय किया गया था। इस विशेषांक का प्रकाशन और पहले हिन्दी भवन के शिलान्यास के साठवर्ष-पूर्ति के उपलक्ष (१९३८-९८) में होजाना चाहिए था। पर सामग्री संकलन तथा व्यवस्थापना में विलम्व आदि के कारण मुद्रण तथा प्रकाशन में काफी देर हो गई। अंक १९९८ के वजाय १९९९ में निकल रहा है। इसका हमें पूरा खेद है।

सन् १९०८ ई० में आचार्य क्षितिमोहन सेन हिन्दी जगत् (वाराणसी) से शान्तिनिकेतन आये। तभीसे हिन्दीजगत के प्रति शान्तिनिकेतन में आकर्षण पनपना शुरु हुआ। ७ नवंबर १९३० को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का आगमन हुआ। तब से यह आकर्षण और वल पकड़ने लगा। जिसके फलस्वरूप 'हिन्दीसमाज शान्तिनिकेतन' की स्थापना हुई। हिन्दीसमाज के कार्यक्रमों में गुरूदेव रवीन्द्रनाथ भी गहरी रुचि लेते थे। उत्सवमुखर शान्तिनिकेतन में हिन्दीसमाज भी विशेष विशेष तिथियों पर हिन्दी-चर्चा, विचार-विमर्श आदि की व्यवस्था करता था। उन अवसरों पर हिन्दी जगत के मनीषियों तथा साहित्य-सेवियों को सादर आमंत्रित किया जाता था। ऐसे हीं उपलक्षों पर आमंत्रित कतिपय व्यक्तियों के कुछ उतर-पत्रों के चित्ररूप इस अंक में

दिये जा रहे हैं। अन्य उपयोगिताओं के साथ इन पत्र-चित्रों की ऐतिहासिक महत्ता भी कम नहीं है।

उद्धृत पत्र सन् १९३५-३६ ई० में ही लिख गये हैं। हिन्दीसमाज शान्तिनिकेतन का उल्लेख १९३२ से १९३७ ई० तक की अवधि में पाया जाता है। श्रीपतराय ने काशी से हजारी प्रसाद द्विवेदी जी को १२-१-३२ के एक पत्र में लिखा है—"आपके इस समारोह के अवसर पर मैंने 'हिन्दीसमाज के लिए अपनी प्रकाशन-संस्था की समस्त किताबें छोटी-सी भेंट के रूप में भेजी हैं। और तो अब पहुँच ही रहा हूँ।"

१२-८-३७ की 'शान्तिनिकेतन हिन्दी, समाज' की एक विज्ञप्ति तो आप के हाथोंमें ही है, जिसमें 'तुलसी जयंती' के अवसर पर आचार्य क्षितिमोहन सेन की अध्यक्षता में तुलसी दासजी के संवंध में हिन्दी बँगला तथा अंग्रेजी में आलोचना की बात कही गई है।

हम यह भी जानते हैं कि ३१ जनवरी १९३९ को पंडित जवाहर लाल नेहरू के हाथों हिन्दीभवन का द्वारोद्घाटन संपन्न हुआ। और इसी तरह से शान्तिनिकेतन में गुरुदेव के हिन्दी-चर्चा का सपना साकार होने चला। इन पत्र-चित्रों के संयोजन से इस विशेषांक की गुरुता बढ़ी है—ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रकाशन में विलम्ब के लिए सम्पादक क्षमा प्रार्थी हैं। इस अंक की योजना डॉ० रामसिंह तोमरजी ने बनाई थी। अतः हम उनके प्रति आन्तरिक आभार प्रकट करते हैं। इस विशेषांक के द्वारा हिन्दींभवन-परिवार हलवासिया बन्धुओं के प्रति श्रद्धा निवेदन का अवसर पाकर हर्ष तथा तृप्ति का अनुभव कर रहा है।

—रामवहाल तिवारी

हिन्दी त्रैमासिक 'विश्वभारती पत्रिका'-विषयक विवरण

फार्म चार, नियम संख्या आठ के अनुसार

१. प्रकाशन स्थान	:	शान्तिनिकेतन, बीरभूम,
२. प्रकाशन की आवृत्ति	:	त्रैमासिक।
३.—४. प्रकाशक तथा मुद्रक का नाम	:	द्विजदास बंद्योपाध्याय कर्मसचिव, विश्वभारती द्वारा श्रीदुर्गा प्रेस, बोलपुर में मुद्रित।
राष्ट्रीयता	:	भारतीय,
पता	:	शान्तिनिकेतन, जिला बीरभूम।
५. संपादक	:	रामवहाल तिवारी,
राष्ट्रीयता	:	भारतीय,
पता	:	शान्तिनिकेतन, जिला वीरभूम।
६. स्वामित्व	:	विश्वभारती विश्वविद्यालय, शान्तिनिकेतन, प० बं० : ७३१२३५।

मैं द्विजदास बंद्योपाध्याय घोषित करता हूँ कि ऊपर दिए गये तथ्य मेरी जानकारी तथा विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

द्विजदास बंद्योपाध्याय
रजिस्ट्रार, विश्वभारती

अकतूबर, १९९८ - मार्च १९९९ पंजीयन सं०—आर० सं० 12088/66



प्रकाशक : द्विजदास वन्द्योपाध्याय, कर्मसचिव, विश्वभारती
कार्यालय सहायक : श्यामानंद ठाकुर
मुद्रक : श्रीदुर्गा प्रेस, बोलपुर (फोन : ५३८१०)

प्रकाशन तिथि : दिसंबर १९९९